भरटकद्वात्रिंशिका

R/503

संपादन तथा अनुवाद
राधावल्लभ त्रिपाठी

भरटकद्वात्रिंशिका

भरटकों की बत्तीस कथाएँ,
संस्कृत कथा साहित्य की अज्ञात
और दुर्लभ कृति, हिन्दी अनुवाद
सहित. संपादन तथा अनुवाद
राधावल्लभ त्रिपाठी.

प्रकाशक
संस्कृत परिषद्
विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)

प्रथम संस्करण

1987

मूल्य : पंद्रह रुपया

मुद्रक : एकेडमी प्रेस,
दारागंज, इलाहाबाद

Bharatakadvātriṅśikā : a collection of thirty-two tales in Sanskrit with Hindi translation. Edited and translated by Radhavallabh Tripathi. First Ed. 1987 Pub. by Sanskrit Parishad, University, Sagar, M. P., INDIA.

भूमिका

'भरटकद्वात्रिंशिका' संस्कृत-कथा-साहित्य की विस्मृतप्राय किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ी है। पञ्चतन्त्र, वैतालपञ्चविंशति और शुकसप्तति की सार्वभौम कथा परम्परा में यह एक नया आयाम जोड़ती है। मूर्खों या प्रचलित व्यवस्था के बाहर रहने वाले लोगों के चरित्र को लेकर रचा गया कदाचित यही एक प्राचीन कथा संग्रह हमें हमारी विरासत ने दिया है। कथा-साहित्य की यह अज्ञात धरोहर इस संस्करण के साथ पहली बार भारत में प्रकाशित और उपलब्ध हो रही है।

संस्करण तथा हस्तलिखित प्रतियाँ

'भरटकद्वात्रिंशिका' का एकमात्र प्रकाशित संस्करण प्रसिद्ध भारतीय विद्याविद् श्री हर्तेल के संपादन में लाइपजिग से १९२२ ई० में छपा था। सम्प्रति यह दुष्प्राप्य है।

श्री हर्तेल को इसकी एक हस्तलिखित प्रति १९१३ ई० में उपाध्याय इन्द्रविजय जी से मिली थी। इसकी एक प्रति कलकत्ता में होने का भी उल्लेख मिलता है। आफ्रेख्ट ने बोदेलियन पुस्तकालय की हस्तलिखित ग्रथसूची भाग-१ में क्र० ३२९ पर इस पुस्तक की पांडुलिपि का विवरण दिया है। उपाध्याय इन्द्रविजय जी के पास इसकी एक प्रति और थी, जिसका अब पता नहीं चलता। १८६० में वेबर ने जर्मन भाषा में भद्रा० का अंशतः अनुवाद किया था। इसका एकमात्र पूर्ण अनुवाद स्वयं हर्तेल ने जर्मन भाषा में किया, जो लाइपजिग से प्रकाशित है।

लेखक तथा रचनाकाल

'भरटकद्वात्रिंशिका' का लेखक संभवतः कोई जैन साधु था, जिसका नाम ज्ञात नहीं है। हर्तेल ने उल्लेख किया है कि उपाध्याय इंद्रविजय जी के पास की पांडुलिपि की पुष्पिका में यह वाक्य था—

'तपागणाधीश्वरसोमसुन्दरान्तेवासिनो वाचकचक्रचक्रिणः श्रीसाधुराजादधिगम्य कोतुकादलेखि शिष्येण यथाश्रुतं त्विदम्।'

इसके अनुसार श्री सोमसुन्दर के शिष्य श्री साधुराज से सुनी हुई कथाओं को उनके (साधुराज के) शिष्य ने इस पुस्तक में लिखा था। हर्तेल का अनुमान है कि उक्त साधुराज तथा हरिभद्रकृत 'योगदृष्टिसमुच्चय' में उल्लिखित देवसुन्दर के शिष्य

और चित्रस्तोत्र का कर्ता श्री साधुराज एक ही व्यक्ति है। देवसुन्दर का समय सं० १३९६ (१३३९-४० ई०) उल्लिखित है।

इस प्रकार साधुराज का समय चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध प्रतीत होता है। इनके शिष्यों में मुनिसुन्दर का उल्लेख मिलता है। हर्तेल का कहना है कि मुनिसुन्दर ही इन कथाओं के संकलनकर्ता और लेखक हैं।

भरटक का अर्थ

'भरटक' शब्द इस कथासंग्रह में शिवभक्तों के एक संप्रदाय-विशेष के साधुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है। गुजराती में इसी का तद्भव 'भरडो' शब्द प्रचलित है, जो शिव-भक्त के लिये प्रयुक्त होता है। 'भरटक' शब्द इसी अर्थ में 'शुकसप्तति' तथा हेमविजय के 'कथारत्नाकर' में भी आया है।

भरटक 'जड-भरत' की परम्परा के साधु प्रतीत होते हैं। व्यवस्था से बाहर रहने के कारण ही संभवतः वे उपहास के पात्र बनाये जाते रहे होंगे, और उनकी कथित मूर्खता या जडबुद्धि के किस्से चल पड़े होंगे।

राजशेखर सूरि ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में 'भरटक' को परिभाषित करते हुए बताया है कि किसी भी वर्ण का व्यक्ति भरटक-संप्रदाय का व्रत ले सकता है, इसके लिये जात-पाँत का बन्धन नहीं है, केवल शिव में भक्ति होना चाहिये—

भरटानां व्रतादाने वर्णव्यक्तिर्न काचन।
यस्य पुनः शिवे भक्तिर्व्रती स भरटो भवेत् ॥

(ष० द० स०, यशोविजयग्रंथमाला—१७, पृ० ४४)

ष० द० स० की टीका में इस स्थल की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि भरट, भक्त, लैंगिक, तापस आदि एक ही समाज के अंतर्भेद हैं।

'तेषामन्तर्भेदा भरटभक्तलैङ्गिकतापसादयो भवन्ति। भरटादीनां व्रतग्रहणे ब्राह्मणादिर्वर्णनियमो नास्ति। यस्य तु शिवे भक्तिः, स व्रती भरटादिर्भवेत्।"

सारी कथाएँ भरटक-समाज के साधुओं पर हैं, पर सांप्रदायिक दृष्टि ने इनके कथा-रूप को कोई क्षति नहीं पहुँचाई है। 'भरटक' के पर्याय के रूप में यहाँ भौत, भौतिक और जटी शब्द भी प्रयुक्त हैं। भूतपति (शिव) का भक्त—यही भौत या भौतिक का भी अर्थ है।

भूगोलिक क्षेत्र

भरटकद्वात्रिंशिका गुजरात की जैन-कथा-परम्परा की एक कड़ी है। इसकी कथाओं का क्षेत्र गुजरात तथा मारवाड़ में केन्द्रित है। प्रत्येक कथा में एक नगर या

ग्राम का नाम पहले ही वाक्य में दिया है। सम्भवतः ये सारे नगर, ग्राम उक्त क्षेत्र में उस समय विद्यमान रहे हों। तथापि भूगोल की दृष्टि से इन कथाओं का सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक लगातार परिशीलन अपेक्षित है। वस्तुतः भद्वा० की पूरी नामावली ही बड़ी रोचक तथा अध्येतव्य है।

कथाओं का वैशिष्ट्य

'भरटकद्वात्रिंशिका' कहानी की भारतीय परम्परा में अपने ढङ्ग की अनूठी कृति है। यह कहानी की वाचिका परम्परा का रूप सामने रखती है। लेखक ने स्वयं विनम्रता के साथ स्वीकार किया है कि उसने जिस रूप में ये कथाएँ सुनी, उसी रूप में लिखी हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इन कथाओं को कथासरित्सागरकार सोमदेव की शब्दावली में 'मुग्धकथा' का नाम दिया जा सकता है। 'भरटकद्वात्रिंशिका' संस्कृत साहित्य में मुग्धकथाओं का एकमात्र संकलन है।

ये कहानियाँ भरटकों का मखौल उड़ा कर उसके माध्यम से मूढ़ता और अनवधानता का परिहार करने की दृष्टि से लिखी गयी हैं, मूर्खों के बारे में प्रचलित कुछ लोक कथाओं को भी यहाँ भरटकों पर आरोपित कर प्रस्तुत किया गया है। कुछ कहानियाँ चुटकुलों जैसे हल्के-फुल्के परिहास या उपहास तक ही सीमित रह गयी हैं। कुछ कहानियाँ भ रटक-समाज के उजड्ड और उजबक चरित को रोचक स्थितियों में प्रस्तुत करती हैं, और इससे आगे बढ़ कर कुछ इनी-गिनी कहानियाँ भरटकों के उस विशेष तेवर से साक्षात्कार कराती हैं, जिसमें वे वर्जनाओं को तोड़ने या व्यवस्था को संपुष्टि न देने के कारण प्रतारित होते हैं। पहली ही कहानी इसका अच्छा उदाहरण है। एक विसंगत स्थिति की छानबीन जिस सामाजिक चेतना के साथ इसमें की गयी है, वह इसे महत्वपूर्ण बना देती है। पाँचवीं कहानी में एक ग्राम कवि की कंगाली और व्यथा को भी विसंगति पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए व्यक्त किया गया है। मध्ययुगीन भारतीय समाज का एक जीता-जागता रूप इन कहानियों में चित्रित है।

'पञ्चतन्त्र' की कथा-परम्परा का प्रभाव इन कहानियों में अंतर्गुंफित है। पहली कहानी में तो सीधे-सीधे पंचतंत्र से पद्य उद्धृत कर वहाँ की एक कथा का हवाला दिया गया है, तीसरी कहानी भी 'पञ्चतन्त्र' की एक कथा की पुनःप्रस्तुति है। पच्चीसवीं कहानी कालिदास के द्वारा पेड़ की डाल काटने की किंवदन्ती को विस्तार देती है। फिर भी ये कहानियाँ समाज के उस तबके को सामने लाती हैं, जो इतर कथा परम्पराओं में इस रूप में नहीं आया था। वे मध्यकालीन समाज के बारे में हमारी जानकारी में बहुत कुछ जोड़ सकती हैं, और हमारे सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण सामग्री उनमें है।

भाषा-शैली

'भरटकद्वात्रिंशिका'' के गद्य में भी कथा-कथन की शैली का प्रभाव है। बाण या सुबन्धु की काव्यात्मकता और जटिल बिंबविधान से वह अछूता है। भाषा प्रायः अनगढ़ है, 'पञ्चतन्त्र' या 'हितोपदेश' के जैसा भी परिष्कार उसमें नहीं है। वैयाकरणिक अशुद्धियों और देशज शब्दों की उसमें भरमार है। गुजरात और राजस्थान में प्रचलित बोलियों की वाक्य रचना और मुहावरे यहाँ व्यवहृत हुए हैं। बोलचाल की भाषा का बहुत सहज और संप्रेष्य रूप हम इन कहानियों में देख सकते हैं।

'भरटकद्वात्रिंशिका' में व्यवहृत अनेक देशज शब्द अभी भी गुजराती, मेवाड़ी और मालवी बोलियों में प्रचलित हैं। उदाहरण के लिये—कटुच्छुक (कड़छू), कच्छोटिका (कछौटी), डंगरडुं (डूंगरी), कट्टोरक (कटोरा), गुणयन्ति (गुनते हैं—पढ़ने के अर्थ में), भाणित (पढ़ाया हुआ, मालवी में भन्या-गुन्या), डोलि (डोलची), भाई (बाई), कोष्ठिका (कोठी—ड्रम के अर्थ में)।

इसके अतिरिक्त तत्सम शब्दों के स्थान पर भरटकद्वात्रिंशिका के लेखक ने तद्भव या अपभ्रंश के शब्दों का उपयोग कर भाषा के साथ खूब छूट ली है। संभाल्य (संभाल कर), उत्काल्य (उकाल कर), इकुपरि (एकोपरि), भंइसी (भैंस), गदयल (नदी), चटति (चढ़ा), छोटयित्वा (छोड़कर), पिट्टनम् (पिटाई), लघुनीत्यर्थं (पेशाब के लिये) खरडियुं (सूखा), खरडकुं (झरना), डुबिका (डुबकी), टालन (टालना), छूटिष्यते (छूटेगा) इत्यादि प्रयोग भारतीय भाषाओं के वर्तमान रूप की झलक देते हुये आर्य भाषा के अंतिम चरण के विकास की पृष्ठभूमि सूचित करते हैं। अपभ्रंश की गाथाएँ या वाक्य कथाओं में कुछ स्थलों पर उद्धृत हैं। हर्तेल ने आलमालम् जैसे शब्दों के प्रयोग में अरबी (अल्लम-गल्लम्) का प्रभाव भी देखा है।

प्रस्तुत संकरण

इस संस्करण के साथ 'भरटकद्वात्रिंशिका' पहली बार हिंदी या किसी भी भारतीय भाषा में अनूदित होकर प्रस्तुत हो रही है। अभी तक जर्मन को छोड़ कर अन्य किसी भी भाषा में इस कृति का अनुवाद नहीं हुआ है। मूल संस्कृत का यहाँ प्रस्तुत पाठ हर्तेल के द्वारा संपादित संस्करण पर आधारित है, जिसकी प्रति हुम्बोल्त विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के सौजन्य से प्राप्त हुई। हर्तेल के संस्करण में अनेक स्थलों पर पाठ त्रुटित या अशुद्ध है, जिसे यहाँ यथाशक्य संशोधित किया गया है।

●

भरटकद्वात्रिंशिका

(मूल)

भरटकद्वात्रिंशिका

अर्हम् ॥ श्रीशारदायै नमः ॥

देवदेवं नमस्कृत्य श्रीगुरूंश्च यथाश्रुतं ।
द्वात्रिंशद्भरटकानां लिख्यंते कौतुकात्कथाः ॥

इह हि जगति सर्वैरपि श्रेयोर्थिभिः पुंभिर्निःश्रेयसावाप्तये सदापि सदाचरण-ज्ञानप्रगुणैर्भाव्यं । सदाचरणपरिज्ञानं च मूर्खजनचरितं यत्तत्स्वबुद्धिकल्पितवस्तुप्रवर्तना-नर्थदर्शनेन व्यक्तीभवति । अतस्तद्व्यक्तये मूर्खचरितपरिहाराय च भरटकद्वात्रिंशिका प्रारभ्यते । यथा ॥

समे कार्ये हि सर्वस्य सर्वे सन्ति सहायकाः ।
विषमे न पुनः कश्चित् धनदश्रेष्टिनो यथा ॥

तथा हि ॥ भरतेत्र श्रीश्रीपुरे पुरे महीपतिर्नृपतिरभूत् । तत्र च स्वधनजित-धनदो धनदो नाम श्रेष्टी वसति स्म "समस्तपुरप्रधानः । तस्य स्वरूपनिर्जिताशेष-विद्याधरीरूपा मुख्या नाम जायास्ति श्रेष्टिनः श्रेष्टप्रीतिपात्रम् । एकस्मिन्दिने तस्य श्रेष्टिनो गृहे झगटको ताम भरटको भिक्षायै समायातः । तस्य च भिक्षां ददत्याः सुरूपाया रूपातिशयविस्मयाच्चिरतरं चक्षुषी विकास्य निभालयन्तं भौतिकं दृष्ट्वा श्रेष्टी रुष्टः प्रोवाच–'अरे मूर्ख भिक्षुकाधम दुराचार कस्मादतिमात्रं मद्भार्यां विलोकयसि ।' ततः सोपि रुष्टः सन्वक्ति । 'रे श्रेष्टिन्, यदि स्वभावान्निरूपन्यन्तं निर्दोषमपि मां सेर्ष्यतयाधिक्षिपसि तदा बलात्कारेणाप्येनां त्वद्भार्यां लात्वैव तव गृहाद्यास्यामि नान्यथा ।' इत्युक्त्वा तद्गृहे लङ्घितुमुपविष्टः । तदा श्रेष्टिना विरूप-वचनैर्बहु धिक्कृतोपि कथमपि नोत्तिष्टति । बहूनि लङ्घनानि च जातानि । तदा श्रेष्टिनातिहितमित्रारक्षकमन्विनृपा विज्ञप्ताः स्वभार्यामार्गणव्यतिकरम् । तदा तैः सर्वैरप्युक्तम्—'भोः श्रेष्टिन्, सर्वथा त्वया स्वजाया नार्पणीया । अयं मूर्खः क्वापि वाते शयितः । तेनालमालं लपति ।' श्रेष्टिनोक्तम्—'स लंघनैर्मरिष्यति । तदा किम् ?'

मित्रादिभिरुक्तम् 'सम्प्रत्येव म्रियताम् न भवतः किमपि दूषणम् । एवं हि भार्याः प्रार्थ्यमानाः किं केनापि दीयन्ते ?' एव श्रुत्वा श्रेष्ठी हृष्टः । ततश्च बहलङ्घनभयेन श्रेष्ठिनाचिन्ति । मृतेस्मिन् किमेते मित्रादयो वाङ्मात्रसारा मम सहाया भविष्यन्ति न वेति विलोकयामि । यतः ।

अनागतं यः करुते स शोभते । न शोभते यः कुरुते त्वनागतम् ।
वनेऽत्र संस्थस्य जरा ह्युपागता । विलस्य वाचो न कदापि निर्गता ॥[1]

इति परीक्षार्थं पूर्वं श्रेष्ठिना मित्राग्रे प्रोक्तं । 'भो मित्र स जटी बुभुक्षया मृतः । किं करिष्यते । सार्धमागच्छ । आरक्षकस्य कथ्यते ।' तदा मित्रेणोक्तम् 'श्रेष्ठिन् त्वया न युक्तं कृतम् । एवं मर्तुं कस्मादृतः ? केनापि प्रकारेणोत्थापितः कुतो न ? यत एतद्भवतो महादूषणं जातम् । यदि राजा ज्ञास्यति तदा महानर्थो भावी ।' श्रेष्ठिना प्रोक्तम् 'मया भवतामग्रे पूर्वमेवोक्तं यदुतायं लङ्घनैर्मरिष्यति । भवद्भिश्च प्रोक्तम् मरिष्यति-तदा म्रियताम् इति भवद्वचसा मया नोत्थापितः । अतः कारणादागच्छ । तत्स्वरूपं आरक्षकादीनां ज्ञाप्यते । अन्यथा ते लोकेभ्यो वार्तां श्रुत्वानर्थं करिष्यन्ति ।' ततो मित्रेण चिन्तितम् 'एतस्यान्यायकारिणः साहाय्यान्ममापि दण्डादि भविष्यति । ततः सकाल एव पलायनं श्रेयः । इति विचिन्त्य प्रोक्तम्—'भोः श्रेष्ठिन् त्वमग्रतश्चल । अथाहमागच्छामि ।' इति श्रेष्ठिनि चलिते स नष्टः । ततः श्रेष्ठिना चिन्तितम् अहो संप्रति कष्टम् । मित्रमप्यमित्रीभूत् । ततः श्रेष्ठिनारक्षकमनिणोरिदं स्वरूपं प्रोक्तम् । ताभ्यामपि श्रेष्ठी तथैव भृशमुपालब्धः । ततो राज्ञः प्रोक्तम् । ततो राज्ञाप्युक्तम् 'भोः श्रेष्ठिन्, मन्नगरे त्वमेव मुख्यः सर्वमर्यादास्थानं बहुमान्योप्येवमन्यायं कुरुषे । तदा को नाम न्यायी भविष्यति । यतस्त्वया स्वयमेव द्रव्यलोभेन गृहे क्षिप्त्वा मारितो भविष्यति । मदग्रे तु मुधा रावं कुरुषे । अन्यथा कोपि कस्यापि भार्यां मार्गयति । इति त्वमेव दण्डार्हः ।' ततो राज्ञा स्वसेवकाः प्रोक्ताः । 'भो भो भटाः एवं श्रेष्ट्यपसदं पापिष्ठं तपस्विहत्याकारकं बध्नीध्वं बध्नीध्वम् । एतदीयं सर्वं गृहसारमत्रानीयताम् । ततः श्रेष्ठी खिन्नश्चिन्तयति—अहो ममैतं रेव प्राक् तथा प्रोक्तम् सम्प्रति तु विपरीतं भाषन्ते स्वार्थनिष्ठाः परविघ्नसन्तोषिणः । सर्वोपि लोकः स्वकार्यकारी सम एव सहायो न तु विषमकार्ये । यतः ।

वाङ्मात्रमैत्रीमधुरो जनोयं । न मूढकार्ये घटते सहायः ।
अनन्यसाध्यां जठरस्य यात्रां । साद्धुं जने वासमुशन्ति धीराः ॥

ततः श्रेष्ठिना राजाग्रे प्रोक्तम्—'भोः स्वामिन् क्षणं प्रतीक्षध्वम् । एकशो गृहे गत्वा सर्म्यग्विलोकयामि । कदाचिद्यदि जीवन्भवति तदा मानयित्वोत्थापयामि । मया

---

१. ...स शोच्यते यो न करोत्यनागतम् ।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा, बिलस्यवाणी न कदापि मे श्रुता ।
इति पञ्चतन्त्रे, काकोलूकीये एकादशकथायां पाठः ।

तु श्वसन्मुक्तोभूत् । ततः श्रेष्ठिनानन्यगतिकत्वेन गृहे समेत्य पादयोर्लगित्वा सविनयवचनैः स भौतिक उत्थापितः । प्रोक्तं च 'भो गृहाण मद्भार्यां सारालंकारभूषितां भोजनं च कुरु । अन्यदपि द्रव्यादि गृहाण ।' तदा तदीयविनयवचनामृततृप्तो भौतिक उत्थाय श्रेष्ठिनमवादीत् । 'भो मम सर्वथा स्त्रिया द्रव्येण च किमपि कार्यं नास्ति । अहं ब्रह्मचारी निरीहो भैक्षभोजी भवद्वचनादेव दूनो हठादुपविष्टः ।' ततो भोजनं कृत्वा स स्वस्थाने गतः । श्रेष्ठिन आनन्दः । राजादयो रञ्जितास्तद्बुद्धिविभवेन । इति प्रथमा कथा ॥१॥

कोपि स्वप्नोपलब्धेर्थे प्रवर्तेत नरो जडः ।
पक्वान्नसम्भृतमठी स्वप्नद्रष्टा यथा जटी ॥

नन्दिग्रामे दुर्मतिनामा भरटको वसति सर्वलोकेभ्यो भोजनाजीवी । स एकदा शरदि कस्यापि कौटुम्बिकस्य गृहे भिक्षार्थं गतः । तेन गृहस्वामिना माहिषं सुशीतलं पिण्डरूपं दधि यथेष्टं दत्तम् । तेन हृष्टेन मठिकामागत्य कण्ठलौल्याद्दधि भुक्तम् । तद्वशान्निशि तस्य निद्रा भृशमागता । ततो निद्रामध्ये स्वप्नं पश्यति । यथा । ममैषा मठी सर्वापि विविधपक्वान्नखाद्यपेयादिरसवतीपरिपूर्णास्तीत्यादि । ततो जागरूकः संश्चिन्तयति । ममैषा मठी सर्वापि भोज्यपूर्णास्ति । अहमेकाकी चेत्तावता भोज्येन किं करिष्ये । सर्वं मुधैव मा विनश्यतु । ततोद्य यथेष्टदायकं लोकं सकलं भोजयास्यनृणीभवामि च । तत उत्थाय मठिकायामेव तालकं दत्त्वा सर्वोपि लोकः सकुटम्बो भोजनाय निमन्त्रितः । ग्राममध्ये सर्वगृहेषु चुल्हकेषु वारि क्षिप्तम् । एवं मध्याह्ने सर्वस्मिंल्लोके मिलिते भोक्तुं समुत्सुक आसनानि मण्डितानि । पङ्क्तिरुपविष्टा । ततो यावता भौतिको मठीद्वारमुद्घाट्य पश्यति तावता किमपि न पश्यति । रिक्तैव मठी । ततः स तरललोचन इतस्ततः कोणकादिकं सर्वं विलोकयति । परं किमपि न पश्यति । तावता तथैव रात्रिवन्मण्डपे पटौ विस्तार्य स्वप्नार्थं सुप्तः । लोकाः सर्वेपि बुभुक्षया म्रियमाणाः परिवेषणाय तमाकारयन्ति । कथयन्ति च । कुतः स्वपिषि । कस्मान्न परिवेषयसि । स प्रतिवक्ति । 'भो लोकास्तावता प्रतीक्षध्वं यावता विविधपक्वान्नाविभृतमठिकां स्वप्नदर्शनवत्संप्रत्यपि दृष्ट्वा सर्वं भोज्यमानीय युष्मान्भोजयामि । इति तद्वाक्यश्रवणोद्भूतकोपाटोपा लोकास्तन्मौर्ख्यं निंदंतः स्वगृहे गताः कष्टेन पाश्चात्यप्रहरे भुक्ताः । एवं धीमद्भिः स्वप्नोपलब्धमात्रेण न प्रवर्तितव्यम् । इति द्वितीया कथा ॥२॥

माया क्वापि न कर्तव्या सुधिया स्वहितैषिणा ।
सानर्थाय कृता कन्यार्थिके भरटके यथा ॥

गङ्गातीरे भीमपुरं नाम पुरम् । तदुपरिष्टात्सुवर्णपुरमस्ति । तत्र सुलोचनः श्रेष्ठी वसत्यत्यन्तधनी भौतिकभक्तश्च । तस्य पद्मिनी भार्या । तयोः सुखमनुभवतोः सप्तसुतोपरि बहु प्रार्थ्यमानैका रुक्मिणी नाम कन्या जाता । सा क्रमेण वर्धमाना

मित्रादिभिरुक्तम् 'सम्प्रत्येव क्रियताम् न भवतः किमपि दूषणम् । एवं हि भार्याः प्रार्थ्यमानाः किं केनापि दीयन्ते ?' एवं श्रुत्वा श्रेष्ठी हृष्टः । ततश्च बहलङ्घनभयेन श्रेष्ठिनाचिन्ति । मृतेस्मिन् किमेते मित्रादयो वाङ्मात्रसारा मम सहाया भविष्यन्ति न वेति विलोकयामि । यतः ।

अनागतं यः करुते स शोभते । न शोभते यः कुरुते त्वनागतम् ।
वनेऽत्रसंस्थस्य जरा ह्युपागता । विलस्य वाचो न कदापि निर्गता ॥[1]

इति परीक्षार्थं पूर्वं श्रेष्ठिना मित्राग्रे प्रोक्तं । 'भो मित्र स जटी बुभुक्षया मृतः । किं करिष्यते । सार्धमागच्छ । आरक्षकस्य कथ्यते ।' तदा मित्रेणोक्तम् 'श्रेष्ठिन् त्वया न युक्तं कृतम् । एवं मर्तुं कस्माद्धृतः ? केनापि प्रकारेणोत्थापितः कुतो न ? यत एतद्भवतो महादूषणं जातम् । यदि राजा ज्ञास्यति तदा महानर्थो भावी ।' श्रेष्ठिना प्रोक्तम् 'मया भवतामग्रे पूर्वमेवोक्तं यदुतायं लङ्घनैर्मरिष्यति । भवद्भिश्च प्रोक्तम् मरिष्यति-तदा क्रियताम् इति भवद्वचसा मया नोत्थापितः । अतः कारणादागच्छ । तत्स्वरूपं मारक्षकादीनां ज्ञाप्यते । अन्यथा ते लोकेभ्यो वार्तां श्रुत्वानर्थं करिष्यन्ति ।' ततो मित्रेण चिन्तितम् 'एतस्यान्यायकारिणः साहाय्यान्ममापि दण्डादि भविष्यति । ततः सकाल एव पलायनं श्रेयः । इति विचिन्त्य प्रोक्तम्—'भोः श्रेष्ठिन् त्वमग्रतश्चल । अथाहमागच्छामि ।' इति श्रेष्ठिनि चलिते स नष्टः । ततः श्रेष्ठिना चिन्तितम् अहो संप्रति कष्टम् । मित्रमप्यमित्रीभूत् । ततः श्रेष्ठिनारक्षकमनिणोरिदं स्वरूपं प्रोक्तम् । ताभ्यामपि श्रेष्ठी तथैव भृशमुपालब्धः । ततो राज्ञः प्रोक्तम् । ततो राज्ञाप्युक्तम् 'भोः श्रेष्ठिन्, मन्नगरे त्वमेव मुख्यः सर्वमर्यादास्थानं बहुमान्योऽप्येवमन्यायं कुरुषे । तदा को नाम न्यायी भविष्यति । यतस्त्वया स्वयमेव द्रव्यलोभेन गृहे क्षिप्त्वा मारितो भविष्यति । मदग्रे तु मुधा रावं कुरुषे । अन्यथा कोपि कस्यापि भार्यां मार्गयति । इति त्वमेव दण्डार्हः ।' ततो राज्ञा स्वसेवकाः प्रोक्ताः । 'भो भो भटाः एवं श्रेष्ट्यपसदं पापिष्टं तपस्विहत्याकारकं बध्नीध्वं बध्नीध्वम् । एतदीयं सर्वं गृहसारमत्रानीयताम् । ततः श्रेष्ठी खिन्नश्चिन्तयति—अहो ममैतं रेव प्राक् तथा प्रोक्तम् सम्प्रति तु विपरीतं भाषन्ते स्वार्थनिष्ठाः परविघ्नसन्तोषिणः । सर्वोपि लोकः स्वकार्यकारी सम एव सहायो न तु विषमकार्ये । यतः ।

वाङ्मात्रमैत्रीमधुरो जनोयं । न मूढकार्ये घटते सहायः ।
अनन्यसाध्यां जठरस्य यात्रां । साद्धुं जने वासमुशन्ति धीराः ॥

ततः श्रेष्ठिना राजाग्रे प्रोक्तम्—'भोः स्वामिन् क्षणं प्रतीक्षध्वम् । एकशो गृहे गत्वा सम्यग्विलोकयामि । कदाचिद्यदि जीवन्भवति तदा मानयित्वोत्थापयामि । मया

---

१. ...स शोच्यते यो न करोत्यनागतम् ।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा, विलस्यवाणी न कदापि मे श्रुता ।
इति पञ्चतन्त्रे, काकोलूकीये एकादशकथायां पाठः ।

तु श्वसन्मुक्तोभूत् । ततः श्रेष्ठिनानन्यगतिकत्वेन गृहे समेत्य पादयोर्लगित्वा सविनयवचनैः स भौतिक उत्थापितः । प्रोक्तं च 'भो गृहाण मद्भार्यां सारालंकारभूषितां भोजनं च कुरु । अन्यदपि द्रव्यादि गृहाण ।' तदा तदीयविनयवचनामृततृप्तो भौतिक उत्थाय श्रेष्ठिनमवादीत् । 'भो मम सर्वथा स्त्रिया द्रव्येण च किमपि कार्यं नास्ति । अहं ब्रह्मचारी निरीहो भैक्षभोजी भवद्वचनादेव दूनो हठादुपविष्टः ।' ततो भोजनं कृत्वा स स्वस्थाने गतः । श्रेष्ठिन आनन्दः । राजादयो रञ्जितास्तद्बुद्धिविभवेन । इति प्रथमा कथा ॥१॥

कोपि स्वप्नोपलब्धेर्थे प्रवर्तेत नरो जडः ।
पक्वान्नसम्भृतमठी स्वप्नद्रष्टा यथा जटी ॥

नन्दिग्रामे दुर्मतिनामा भरटको वसति सर्वलोकेभ्यो भोजनाजीवी । स एकदा शरदि कस्यापि कौटुम्बिकस्य गृहे भिक्षार्थं गतः । तेन गृहस्वामिना माहिषं सुशीतलं पिण्डरूपं दधि यथेष्टं दत्तम् । तेन हृष्टेन मठिकामागत्य कण्ठलौल्याद्दधि भुक्तम् । तद्दशान्निशि तस्य निद्रा भृशमागता । ततो निद्रामध्ये स्वप्नं पश्यति । यथा । ममैषा मठी सर्वापि विविधपक्वान्नखाद्यपेयादिरसवतीपरिपूर्णास्तीत्यादि । ततो जागरूकः संश्चिन्तयति । ममैषा मठी सर्वापि भोज्यपूर्णास्ति । अहमेकाकी चैतावता भोज्येन किं करिष्ये । सर्वं मुधैव मा विनश्यतु । ततोद्य यथेष्टदायकं लोकं सकलं भोजयाम्यनृणीभवामि च । तत उत्थाय मठिकायामेव तालकं दत्त्वा सर्वोपि लोकः सकुटम्बो भोजनाय निमन्त्रितः । ग्राममध्ये सर्वगृहेषु चुल्हकेषु वारि क्षिप्तम् । एवं मध्यान्हे सर्वस्मिंल्लोके मिलिते भोक्तुं समुत्सुक आसनानि मण्डितानि । पङ्क्तिरुपविष्टा । ततो यावता भौतिको मठोद्वारमुद्घाट्य पश्यति तावता किमपि न पश्यति । रिक्तैव मठी । ततः स तरललोचन इतस्ततः कोणकादिकं सर्वं विलोकयति । परं किमपि न पश्यति । तावता तथैव रात्रिवन्मण्डपे पटीं विस्तार्य स्वप्नार्थं सुप्तः । लोकाः सर्वेपि बुभुक्षया म्रियमाणाः परिवेषणाय तमाकारयन्ति । कथयन्ति च । कुतः स्वपिषि । कस्मान्न परिवेषयसि । स प्रतिवक्ति । 'भो लोकास्तावता प्रतीक्षध्वं यावता विविधपक्वान्नाविभृतमठिकां स्वप्नदर्शनवत्संप्रत्यपि दृष्ट्वा सर्वं भोज्यमानीय युष्मान्भोजयामि ।' इति तद्वाक्यश्रवणोद्भूतकोपाटोपा लोकास्तन्मौर्ख्यं निंदंतः स्वगृहे गताः कण्टेन पाश्चात्यप्रहरे भुक्ताः । एवं धीमद्भिः स्वप्नोपलब्धमात्रेण न प्रवर्तितव्यम् । इति द्वितीया कथा ॥२॥

माया क्वापि न कर्तव्या सुधिया स्वहितैषिणा ।
सानर्थाय कृता कन्याथिके भरटके यथा ॥

गङ्गातीरे भीमपुरं नाम पुरम् । तदुपरिष्टात्सुवर्णपुरमस्ति । तत्र सुलोचनः श्रेष्ठी वसत्यत्यन्तधनी भौतिकभक्तश्च । तस्य पद्मिनी भार्या । तयोः सुखमनुभवतोः सप्तसुतोपरि बहु प्रार्थ्यमानैका रुक्मिणी नाम कन्या जाता । सा क्रमेण वर्धमाना

चतुःषष्टिस्त्रीकलासंयुक्ता सर्वलक्षणोपेता पित्रादीनामत्यन्तवल्लभाभूत्। अथ च भीमपुरात्परस्मिन्भागे योजनांतरिता भौतिकमठी समस्ति। तस्यां दमनको नाम जटी कौटिल्यपात्रं बहुच्छात्रपरिवृतो वसति किञ्चिदतीतादिनिमित्तभाषको लोकमान्यश्च। स एकदा सुलोचनश्रेष्टिना निजगृहे भोजनायाकारितो महारसवतीं भोक्तुमुपविष्टः। तस्याग्रे रुक्मिणी रणन्मणिनूपुरकङ्कणाद्याभरणभूषिता यौवनोद्भूतरूपातिशया गङ्गडत्पट्टकूलपरिधाना सरङ्गनीरङ्गीछादितशिरा मौक्तिकखचितकञ्चुका पाणिगृहीतमहार्ध्यतालवृन्तेन बीजयन्ती स्थिता। ततश्च स जटी तां सर्वाङ्गसुन्दरीमादरान्निरूप्य कामपीडितो विस्मृतभोजनरसश्चिन्तयितुमारब्धः। यथा। मनुष्यमध्य एवंविधा अपि रूपपात्रस्त्रियो भवन्ति यदि तदा स्वर्गे किमस्ति। तपस इदमेव मुख्य फलं। यतः।

त्वं प्रिया चेच्चकोराक्षि स्वर्गलोकसुखेन किम्।
त्वं प्रिया यदि न स्या न्मे स्वर्गलोकसुखेन किम्॥

हरिहरचन्द्रसूर्यादीनां च यथा रसस्वीकराणामपि देवत्वं यथा च वसिष्टगौतमादीनां सजायानामपि ऋषित्वं च न विरुद्धं तथा ममाप्यनया सह ऋषित्वमस्तु। मागिता त्वियं व्यवहारिणा सर्वथा न दास्यते। गृहीता तु विलोक्यत एव। अतो मायैव श्रेयसी। तां विना क्वापि कार्यसिद्धिर्न भवति। इति तां कर्तुं प्रवृत्तः। निःशेषस्य तद्ग्रहणध्यानलीनस्य भोजनादि विस्मृतम्। शून्यचित्त इव स्थितः। श्रेष्टिना पृष्टः 'कुतोकस्माद्भवद्भिरार्तध्यानपरैर्न भुज्यते'। स मायया वक्ति 'भोः श्रेष्टिन्, किं भुज्यते यस्य यजमानस्य गृह ईदृशी कुलक्षयकारिणी कुलक्षणा कन्यास्ति। तेन सम्प्रत्येतस्याः कुलक्षणदर्शनेन मम भोजनं विषप्रायं जातम्। जानामि सम्प्रत्येवोत्थाय यामि। ततः श्रेष्टिनोक्तं "गुरो अस्यां जातायामस्माकं कुलं सर्वप्रकारैर्वृद्धिं प्राप्तम्। भवद्भिर्ज्ञानिभिस्त्वेवं विरुद्धं कथं कथ्यते?" पुनः स वक्ति। 'तावत्तव तव कुलवृद्धिर्यावता पाणिग्रहणं न भविष्यति। तदनु च तव कुलस्य श्वशुरकुलस्य च क्षयकारी भविष्यति। ततः श्रेष्टी मूढचित्तः पुरापि तद्वचनप्रत्ययाद्भयभ्रान्तो वक्ति। 'अत्र भवन्त एव सर्वज्ञा अस्मत्कुलगुरव उचितोपदेशं ददतु किं कर्तव्यमिति।' ततः स वक्ति। 'मम तपोधनस्य ब्रह्मचारिणोनया वार्त्तयापि किं कार्यम्। ततः श्रेष्टिनात्यादरेण पादयोर्लगित्वा पृष्टः स वक्ति। 'मया कथयिष्यते कोप्युपायः परं भवद्भिर्न करिष्यते।' श्रेष्टिनोक्तं। किमेवं कथ्यते। भवतां सदापि हितानां वचनं कथं न प्रमाणीक्रियते। इत्यादि दृढं तर्जयित्वा प्रोक्तम्-'श्रेष्टिन् तर्हि शृणूपायम्। सालंकारां चंदनकर्पूरादिचर्चिताङ्गीं सुवसनामेनां काष्टमञ्जूषामध्ये क्षिप्त्वा गङ्गामध्ये निवाह्यते कृष्णचतुर्दशीदिने पाश्चात्यरात्रौ गृहे च होमः कार्यते। एवं च कृते परगृह एवानर्थदा भविष्यति न भवत्कुले।' तद्दिनोपरि सर्वां सामग्रीं कारयित्वा स जटी स्वमठ्यामागत्य शिष्याणामग्रे वक्ति। 'भोः शिष्याः कृष्णचतुर्दशीदिने मम मन्त्रसाधनास्ति। तदर्थं मद्भक्तिसन्तुष्टा गङ्गादेवी मह्यमुपहारभूतां मञ्जूषां प्रातः सूर्योदयवेलायां दास्यति। अतो युष्माभिः

सावधानीभूय गङ्गाप्रवाहमध्यादागच्छन्ती साकर्षणीया। समुद्रेव मठीमध्ये क्षेप्या।' इत्यादिशिक्षां दत्त्वा स तद्दिने रात्रौ होमशान्तिकार्थं श्रेष्ठिगृहे गतः। शिष्या नदीतटे स्थिताः। सतः ससप्तपुत्रेण श्रेष्ठिना भृशं शोकाकुलेन साहसमवलम्ब्य तथा सर्वं गुरूक्तं कृतम्। ततः सा मञ्जूषा श्रेष्ठिना पाश्चात्यरात्रौ गङ्गामध्ये क्षिप्ता। श्रेष्ठी सकुटम्बो गृहे गत्वा शोकादि कृतवान्। ततः सा मञ्जूषा प्रभोदयवेलायां भीमपुरासन्नागता। तन्नगरस्वामिनः पुण्यसारनृपस्य सेवकैर्दन्तधावनार्थं गङ्गायां गतैर्दृष्टानीता च नृपाग्रे। यावता राजा द्वारमुद्घाटयति तावता तादृशीं कन्यां दृष्ट्वा भृशं विस्मितो मन्त्रिणं पृच्छति। 'भो मन्त्रिन्, किमिदम्?' ततो मन्त्रिणा सा कन्या पृष्टा 'का त्वं? कस्य सुता? कथमत्रायाता?' सा लज्जयावाङ्मुखी वक्ति 'अहं सुवर्णपुरवासिसुलोचनश्रेष्ठिनोभीष्टा पुत्री कुलगुरुदमनकजटिना सह किमपि मन्त्रयित्वा पित्रात्र क्षिप्त्वा वाहिता। अपरं किमपि न जाने।' ततो मन्त्रिणा बुद्ध्या तत्स्वरूपं सर्वं सम्यक् ज्ञात्वा राज्ञो विज्ञप्तम्। ततो राज्ञा तां कन्यां लात्वा मञ्जूषायां मर्कटिका क्षेपिता। ततस्तथैव मुद्रां दत्त्वा मञ्जूषा गङ्गामध्ये राजपुरुषैर्वाहिता। राजपुरुषाश्च प्रच्छन्नीभूय पृष्ठौ लग्नाः। ततस्तदीयशिष्यैः प्राग्दत्तसङ्केतैर्मञ्जूषाकर्षिता। समुद्रेव मठीमध्ये क्षिप्ता। ततः सन्ध्यायां प्रकृष्टप्रमोदमेदुरांगस्तस्याः सङ्गमिच्छन् जटी पवित्रीभूय शुचिवस्त्राद्यलंकृतः स्वशिष्याणां संकेतयति। भोरहमद्य रात्रौ मन्त्रसाधनाय मठीमध्ये स्यास्यामि। तत्र च भूयांसो विघ्ना भविष्यन्ति। अतो भवद्भिर्मठीतो दूरे स्थित्वा सावधानीभूय स्थेयम्। मठीद्वारं तु नोद्घाटनीयमेवेत्यादि। स स्वयं भोगार्थी मध्ये प्रविश्य यावता मञ्जूषाद्वारमुद्घाटयति तावतातिबुभुक्षया पीडिता नियन्त्रणारुष्टा मर्कटी तं भौतिकं कर्णनासिकादिषु विलूनयामास। ततः स मध्यस्थो भौतिकः पूत्करोति। शिष्यानाकारयति। तथापि शिष्या विनीताः प्रागवारिता नायान्ति। ततो महता कष्टेन तेन स्वयमेव द्वारमुद्घाट्य निर्गतम्। ततो राजपुरुषैर्बद्ध्वा स राज्ञोग्रे नीतो देशाद्बहिष्कृतः। सा च कन्या सर्वगुणमयी राज्ञोग्रमहिषी बभूव। तस्याः प्रभावेण राज्ञो राज्यवृद्धिः। पश्चात्पितुर्मिलिता। सर्वकुटंबस्यानंदः॥ इति तृतीया कथा॥३॥

विना गुरूपदेशं यो यथादृष्टि प्रवर्तते।
स एव हसनीयः स्यात् जटिनो मूर्खशिष्यवत्॥

वर्धमानपुरे श्रीभटो भरटकः। तस्य धीजडो नाम शिष्योतिमूर्खः। स एकदा नगरमध्ये भिक्षार्थं गतः। तत्र च कस्यचित्सूत्रधारस्य गृहे सूत्रधारेणातिवक्रं वंशं तैलाभ्यङ्गपूर्वं वह्नितापनेन सरलीक्रियमाणं ददर्श। तं तथा कुर्वन्तं दृष्ट्वा स धीजडः सूत्रधारं पप्रच्छ "किमिदं क्रियमाणमस्ति?" ततस्तेनोक्तं। वक्रवंशस्य सरलत्वम्। ततः स चिन्तयति। वातविकारेण वक्रीभूतस्य मद्गुरोरपीदमेवौषधं भवतु। सर्वत्रा-ययमेव सरलीकरणे प्रकारः। ततः स धीजडो मठिकां गत्वा स्वगुरुं तैलाभ्येङ्गपूर्वकं वह्नावत्यर्थं तापयति स्म। तापदूनश्च वराको गुरुः पूत्करोति स्म। तदाक्रन्दं च श्रुत्वा

भूयांल्लोको मिलितस्तं वारयति स्म–'अरे मूर्ख मैवं स्वगुरुं विडम्बय । एवं क्रियमाणे हि वृद्धस्यास्य प्राणा एव यास्यन्ति ।' एवं लोकाक्रोशाञ्छ्रुत्वा स प्रतिवक्ति । यथा 'भवन्त एव मूर्खा भवतां च जनका मूर्खाः । अहं च स्वगुरोर्वक्रस्य सरलत्वं कुर्वाणोस्मि । भवतां केयं परितप्तिः ।' ततो लोको वह्वाक्रोशयन् बलात्कारेण तं मोचयामास । एवं बुद्धिमद्भिर्न कार्यं ॥ इति चतुर्थी कथा ॥४॥

तपोजापक्रियापाठगुणनानि विनाप्यहो ।
लभन्ते केपि भोज्यादि यथेष्टं जटिशिष्यवत् ॥

गोदकग्रामे सरडको नाम भरटकाचार्यः । तस्य भूयांसः शिष्याः सन्ति । परं ते न किमपि पठन्ति गुणयन्ति क्रियां च कुर्वन्ति । किन्तु निद्रावार्त्ताविकथादिपरास्तिष्ठन्ति । तथापि तत्रत्यो भृशं मूर्खो लोकस्तद्गुणरञ्जितो हसहसिकापूर्वमेतेषां भोजनवस्त्रादि ददाति वह्वादरेण । तेन प्रतिदिनं यथेच्छाहारविहारादिभिस्ते शिष्याः पुष्टवपुषो महिषप्राया जाताः । तत एकदा तद्ग्रामवासिना ग्रामभट्टब्राह्मणेन वासितविदुषा ग्राम्यकविना बहुयाचनेपि किमप्यलभमानेन तान्दृष्ट्वा विस्मयापन्नेन ते साश्चर्यमुपश्लोकं पठिताः । यथा ।

भरटक तव चट्टा लंबपुट्ठाः समुद्धा
न पठति न गुणते नेव कव्वं कुणंते ।
वयमपि च पठामो किंतु कव्वं कुणामो
तदपि भुव मरामो कर्मणां कोत्र दोषः ॥

इत्यादि लोकानां पुरस्तात्सर्वत्र स कथयति स्म च । लोकानामपि चाश्चर्यम् । इति पञ्चमी कथा ॥५॥

आत्मकष्टं प्रकाशन्तो येषां तेषां यथा तथा ।
दोरिकाकर्षकजटी यथा दुःखी पुराभवत् ॥

विकटग्रामे सोमको भरटको वसति । स चैकदा वर्षासक्तो स्वमठिकां तृणैश्छादयित्वोपरिष्टाद्दोरिकां बध्नानोधोमस्तकेन पतितो भृशं पीडितश्च । वपुषि व्रणान्यपि जातानि । ततस्तं पीडितं भाषणाय लोक आगच्छति पृच्छति च । भोः किं जातम् ? कथं च पीडितः ? स मूर्खं उत्थाय तथा कृत्वा लोकानां दर्शयति । एवं पतितः पीडितश्च । एव प्रतिजनं तथा कुर्वाणस्तथा पीडितो यथोत्थातुमपि न शक्नोति । पुनर्लोकपृच्छायां कथयति । भवतां जनको दर्शयिष्यति । अतः परं लोकस्तं हसन् स्वस्थाने जगाम । इति षष्टी कथा ॥६॥

मूर्खशिष्यो न कर्तव्यो गुरुणा सुखमिच्छता ।
विडम्बयति सोत्यन्तं यथा वटकभक्षकः ॥

कटेरकग्रामे लुण्ठको जटः । तस्य कुण्ठको नाम शिष्योतिमूर्खो भक्षकश्चास्ति । स एकदा यजमानगृहे कस्मिन्नप्युत्सवे जायमाने द्वात्रिंशद्वटकानि भिक्षायां लब्धवान् । ततः स मठिकामागच्छन्नन्तराले बुभुक्षापीडितश्चिन्तयति । इयतां वटकानां मध्ये गुरुर्मह्यं स्वार्धं दास्यति । तर्हि सम्प्रत्येवाहमात्मीयमर्धं भक्षयामीति षोडश वटकानि भक्षितानि । पुनर्विचारयति । इयतामप्यर्धं दास्यति गुरुरिति स्वार्धमष्टरूपं भक्षयामीति अष्टौ भक्षितवानिति । तावद्वटकार्धं लात्वा स्वगुरोः पार्श्वे शिष्यो मुमोच । गुरुणोक्तम् । 'भोः किमिदम् ? भवतो यजमानेन ···इयन्त एव वटकानि दत्तानि ?' स वक्ति 'द्वात्रिंशद् ···वटकान्येव दत्तानि । परं मया भक्षितानि ।' गुरुणोक्तं । कथं । ततः स शिष्यः शेषमर्धमपि गुरोः पश्यत एव मुखे क्षिप्त्वा कथयति । मयैवं भक्षितानि । गुरुः स्वयमेव बुभुक्षित एव स्थितः । लोकानां तज्ज्ञाने विस्मयः । इति सप्तमी कथा ॥७॥

आत्तव्रताः स्वसङ्कल्पात् प्रवर्तन्ते यथा यथा :
विडम्बयन्ति ते प्रान्तेइक्षुग्राहिकभिक्षुवत् ॥

मल्लानकग्रामे निस्संगो नाम जटी । आन्ते वयसि वर्तमानो धर्मार्थी सन्न कस्यापि सत्कमदत्तं गृह्णाति । स एकदा पुरबहिर्भ्रमन् क्वापि इक्षुवाटके सरसेक्षुदण्डान्दृष्ट्वा जिघृक्षुरनुज्ञापनार्थं वाटकमेवमवादीत् । 'भो वाटक २ गृह्णामि त्रिचतुरानिक्षुदण्डान् । पुनः स स्वयमेवोत्तरयति । गृहाण पञ्चवान् । एवं स्वयमेवानुमतिं लात्वा पञ्चवानिक्षुदण्डान् गृहीत्वा याति । एवं सर्वदा क्रियमाणे धनिकेन ज्ञातम् 'को नाम पापिष्टो मदीयवाटिकादिक्षुदण्डान् गृहीत्वा याति । तदद्य प्रच्छन्नीभूय विलोकयामि ।' इति विचिन्त्य प्रच्छन्नीभूय स्थितः । ततस्तस्मिंस्तथा कुर्वति धनिकः प्रकटीभूय हक्कयामास । ततो जटी वक्ति । 'भो मा कुपः मा कुपः । अहं सर्वदापि मुक्तकाण्यैवेक्षुदण्डान् गृहीतवान् ।' धनिकेनोक्तम् "कथम् ?" तेन स प्रकारः कथितः । ततो रोषाध्मातेन तेन जटिनं दृढं बद्ध्वा कूपसमीपे च नात्वा । प्रोक्तं-कूप, कूप, कथय । आछुत्राद्दापयामि ते त्रिचतुरा डब्बिकाः । दापय पञ्चषाः । इत्युक्त्वा बहु विडम्ब्य वराको मुक्तः शिक्षितश्चातः परमेवं कदापि न कार्यमिति । इति अष्टमी कथा ॥८॥

स्वं प्रच्छन्नकृतं कर्म गर्हितं शङ्कया जडः ।
भाषते स्वयमेवात्र राजमान्यो जटी यथा ॥

सुप्रभपुरे रिपुमर्दनो नृपोभूत् । तत्र च धरटको नाम भरटकोतिदरिद्रो वसति । स एकदा लक्ष्मीसमुपार्जनार्थं विदेशे गतः । वाणारस्यां च पुर्यामेकस्मिन्दिने संपूर्णदिनं भोजनार्थं बभ्राम । परं भोजनं क्वापि नाप । ततो रात्रौ जातायां बुभुक्षया म्रियमाण स कस्यापि रजकगृहे जगाम । तत्र श्राद्धादिप्रकरणे जायमाने गृहस्वामिना भोजनाय निमन्त्रितः । तेनानन्यगतित्वेन तत्रापि भुक्तमाकण्ठम् । पश्चात्कालांतरेण स स्वपुरे समागात् । दैवानुकूल्याद्राजमान्यो राज्ञोतिप्रसादपात्रं स पुरोहितो बभूव । अन्यदा तत्र पुरे विदेशादेकं कलावन्नर्तकपेटकं समागात् । तेन

राज्ञोग्रे स्वकीया कला दर्शिता। अतिरञ्जितेन राज्ञा तस्य बहु दानं ददे। ततो राजमान्यत्वेन द्वितीयदिने तेन नटपेटकेन रात्रौ पुरोहितगृहे नाटकं मण्डितम्। भूयांसोपि लोका अवलोकका मिलिताः। ततस्तेन नटपेटकेन प्रहरत्रयं यावन्नानारूपरसोपेतगीत-ङ्गहाराङ्गविक्षेपहस्तकादिप्रकारैर्नाटकं कृतम्। परं तस्यातिमूर्खस्य पाषाणप्रायस्य पुरोहितस्य किमप्याश्चर्यं नाजायत। ततः स किमपि न दत्ते। ततः सूत्रधारो विलक्ष-श्चिन्तयति। नूनमयं महामूर्खः सर्वथायोग्यः संभाव्यते सरसकथारसानाम्। ततः कमप्यधीश्वरसत्कं प्रबन्धं मुग्धजनरञ्जनोचितं कौतुककारि प्रस्तावयामि यतस्तच्छ्र-वणात्सन्तुष्टो दानं ददाति। इति विमृश्य प्रस्तावयति। यथा।

कहिमु भरडक जं जं कीउं।

इतीदं श्रुत्वा स भरटकः स्वयं शङ्कितः। निश्चितमेष सूत्रधारो मदीयं वाणारस्यां रजकगृहे भोजनं जानाति। तल्लोकमध्ये मा प्रकाशयन्तु। इति हेतोः सुवर्णाभरणपट्टकूलादि बहु दानं दत्तम्। पुनर्लब्धोपायेन सूत्राधारेण तदेव पदं द्वित्र-वारं प्रस्तावितम्। भरटकेन पुनर्दानं दत्तम्। एवं तृतीयवेलायाम्। चतुर्थवेलायां कुपितेन भरटकेन स्वयमेव स्वकृतं दुष्कृतं प्रकटीकर्तुं प्रोक्तम् यथा। भोः सूत्रधार त्वं पुनः २ किं कथयसि कहिमु भ०—इत्यादि। याहि कथय। मया वाणारस्यां बुभुक्षया म्रिय-माणेन रजकगृहे भुक्तम्। एतदेव कथयसि। कथय तर्हि। अतः परं किमपि न ददामि। तच्छ्रुत्वा लोकः सर्वो विस्मितः। नाटकं विसर्जितम्। इति नवमी कथा ॥९॥

व्यवहारमजानानो नरः शोभां बिभर्ति नो।
लोकोपहासं चाप्नोति शण्डदोग्धा यथा जटी॥

सुस्थितग्रामे बहवो भरटका वसन्ति। एकदा तैर्भिक्षायां गतैः कस्यापि कौटुम्बिकस्य गृहे पायसं घृतशर्करोपेतं लब्धम्। तैस्तद्भुक्तम्। जिह्वायां लग्नम्। तदुत्पत्तिर्भरटकैर्यजमानेभ्यः पृष्टा। तैः स प्रकारः प्रोक्तः। ततो द्रव्येण तैरेका गौः क्रीता नवप्रसूता दुर्बला च। ततोन्यैर्भरटकैः प्रोक्तम्। भो मूर्खा भवद्भिरेषा दुर्बला गौः किमर्थं क्रीता? एषा च लघुस्तनी। स्वल्पमेव दुग्धं दास्यति। अतोस्याः परावर्तनाद-परा पुष्टा स्थूलस्तनी गौरानीयताम्। ततस्तां लात्वा पञ्चषाजटिनो मिलित्वा गोकुले गताः। ततो गोकुलपतेरुक्तम्। इमां लात्वास्माकमपरा गौर्दीयताम्। ततस्तेनोक्तम् भो भवतां या रोचते तां गृह्णीत तासु मध्ये। ततस्तैर्महामूर्खैः सर्वतो विलोक्य दुर्बलत्वेन सर्वा गास्त्यक्त्वैकः पुष्टः शण्डो गोबुद्ध्या जगृहे। ततस्तं स्वगृहे नीत्वा यावता सर्वेपि जटिनो दोहाय प्रवृत्तास्तावता बिन्दुरपि न निर्गतः। ततस्तेत्यादरेण दोहाय प्रवृत्ताः। ततो गाढपीडने तेन पादप्रहारं दत्त्वो-त्पतितम्। ततः सर्वेपि विलक्षीभूताश्चिन्तयन्ति 'कुतो दुग्धं न निर्गच्छति?' तत एकेन वृद्धजटिना महाबुद्धिमता प्रोक्तम् 'भो भरटका यूयं कारणं न जानीत।' ततोपरैरुक्तं 'भोः किं कारणम्?' इति पादयोर्लगित्वोक्तम्। ततस्तेनोक्तं 'एतस्या गोः स्तने छिद्रं

नास्ति । तेन दुग्धं न निस्सरति ।' अपरैरुक्तम् 'सत्यं रे सत्यम् !' तत एकस्य जटिनो जटाभिरग्रे तनपादयोर्बद्धः शण्डो द्वितीयस्य तु जटाभिः पाश्चात्यपादयो । एवं कृत्वा केनचिज्जटिना स्यूतकेन वृषणे छिद्रं कर्तुं प्रारब्धम् । तावता स उत्पत्य पलायितः । जटिनोर्जटास्त्रुटिताः । लोका बुम्बापरा मिलिता हसन्तस्तेषामाक्रोशान्दद्युः । ततस्ते भरटका अस्माकं गौर्गच्छति २ इत्यालपन्तः पृष्ठौ लग्नाः । एवं तेषां पश्यतामेव स शण्डो वने गतः । ततः सर्वेपि जटिनो मिलित्वा मन्त्रयन्ति । यथा । इयं गौर्न भव्या । पुनर्नवीना गृह्यते । इति पञ्चशतं द्रम्मा लात्वा सार्थेन सहैको भौतिको विशिष्टधेनुग्रहणाय चलितो ग्रामान्तरं प्रति । रात्रावन्तराले क्वापि देवकुले पञ्चभिः सार्थिकैः साकं शयितः । मध्यरात्रेपरेषु निद्रयाघूर्णमानेषु तस्मिंश्च भरटके जाग्रति चौरा आगताः । तैस्तं जीर्णशटितवाससं भूतखरटिकं च दृष्ट्वा प्रोक्तं । 'भोः किमनेन मुषितेन ? अयं कोपि रङ्कः शयितोस्ति । अतः स्थानान्तरं गम्यते ।' एवं तदालापं श्रुत्वा जटी वक्ति । 'भवन्तो रङ्ककाः । भवतां जनको रङ्कः । अहं धनी । मम पञ्चशतं द्रम्माणामस्ति । इत्युक्त्वा ग्रन्थिं वादयित्वा दर्शयति 'यदि च न मन्यध्वे तदैतान्सार्थिकान्पृच्छत ।' ततश्चौरैः पश्चाद्वलित्वा प्रथमं स पूर्वं लुण्टितः पश्चात्सर्वेपि लुण्टिताः । ततस्तैराक्रुष्टो भौतिकः शिरः कण्डूययित्वा स्वगृहं आगतः । एवं न कार्यम् । इति दशमी कथा ॥१०॥

स्वयं मूर्खालसो यश्च परवागविचारकः ।
स दुःखी स्याद्यथा शीतपीडितो जटिलः पुरा ॥

कुरडग्रामे धरडो नाम भरटकोभून्मूर्खोत्यलसशिष्ययुतः । एकदा शीतर्तौ स्फीते शीते पतति मध्यरात्रे स भौतिको लघुनीत्यर्थं मठ्या बहिर्निर्गतः । तां कृत्वा स भृशमलसत्वेन तत्रैव स्रस्तरभ्रान्त्या पपात निद्राघूर्णमानः । पाश्चात्यप्रहरे स शीतेन भृशं पीडितः कोकूयते । शिष्यस्य च कथयति । भोः शिष्य किमहं स्रस्तरे मठीमध्ये वास्मि । बहिर्वाचं श्रुत्वा सोपि तादृगेवालसः शयित एव स्वहस्तेन गुरोः स्रस्तरं विलोकयति । तत्र शयितस्य शुनः पुच्छं तस्य करे लग्नम् । ततः शिष्यो वक्ति । 'भो गुरो तव पुच्छमस्ति न वा ।' सोपि तच्छ्रुत्वा स्वकच्छोटिकां करेण सम्भाव्य वक्ति 'भोरस्ति मम पुच्छम् ।' ततः शिष्येणोक्तम् 'तर्हि मठीमध्ये स्रस्तरे त्वमसि ।' ततः स तद्वचनप्रत्ययेन स्वमौढ्येन च तत्र पतित एव शीतेन पीडितो मृत इव जातः । प्रातर्लोको मिलितः । तं तथा पतितं दृष्ट्वा लोकः पृच्छति । भोः किं जातं । शिष्यो वक्ति 'नाहं जाने ।' पश्चात्तूर्यकरस्पृष्टः प्राप्तचैतन्यो भौतिक उत्थापितः । लोकानां तु कौतुकमभूत् । इत्येकादशकथा ॥११॥

औषधाढ्यो न कार्यज्ञो मूर्खं पश्येद्यथाजटी ।
वैद्यातिविषदानेपि विषेणामारयद्गुरुम् ॥

कोलकग्रामे वृद्धो जूटको जट्यस्ति । स एकदा ज्वरविकारेणात्यर्थं पीडितः । सन्निपाताधिक्ये जाते तदीयशिष्येण वैद्यगृहे गत्वौषधं पृष्टम् । तेनातिविषमुत्काल्यदेय-

मित्युक्तम्। शिष्येण मार्ग आगच्छता चिंतितम्। वैद्येनातिविषमुक्तम्। मम गुरुस्तु भृशं दुर्बलः। तेन प्रथममतिविषं न सहिष्यते। ततः प्रथमं विषं ददामि तस्य ज्वरे त्वतिविषम्। इति गान्धिक्यहट्टाद्विषमानीय घोलयित्वा स्वगुरोर्दत्तम्। तेन गुरुः शीघ्रं ममार। लोकैः शिष्यो निन्दितः। एवं न कार्यम्। इति द्वादशमी (?) कथा ॥१२॥

विचार्य वेलां प्रष्टव्यः सन्देहो न यथा तथा।
दृष्टान्तोत्र स्वर्गधेनुपुच्छलग्नजटिव्रजः ॥
सर्वेपि लोभिनो यत्र मन्दबुद्धिजनाश्रिताः।
तत्र नैवानुगैर्भाव्यं तां श्रुत्वा मौदकीं कथाम् ॥

सुघोषग्रामे भूमांसो जटिनो वसंति। तेषां मध्य एकः सर्वपशु नामा जटास्ति। तेनैका वाटिका कृता। सा कियद्भिर्वर्षैर्दिव्यद्रुमपुष्पफलोपचिता स्ववाटिकाकल्पाजनि। तस्यां रात्रौ कामधेनुरागत्य चरति। प्रभातप्रायायां रात्रौ पुनः स्वर्गेणोत्पत्य याति। एवं प्रत्यहं तया विनाश्यमानायां वाटिकायां घनिकजटिना रात्रौ सावधानीभूय स्थितम्। तावता गौरागता। तां संपूर्णां रात्रिं यावच्चरित्वा पश्चात्यरात्रौ स्वर्गंच्छन्तीं दृष्ट्वा जटी पुच्छे विलग्नः स्वर्गं गतः। तत्र सरसमोदकादि भक्षितं प्रीतश्च तद्रसेन। पुनरन्यदिने तत्रत्यमेकं सिंहकेसरमोदकं लात्वा तस्याः पुच्छे विलग्य स्ववाटिकायामायातः। प्रातः स्वगृहे गतः। अन्ये जटिनो मिलिताः। तैः पृष्टं 'त्वं क्व गतोभूः ?' स वक्ति "अहं स्वर्गं। तत्रेन्द्रचन्द्रेश्वरविनायकादयो दृष्टाः। ईदृशाश्च मोदका भक्षिताः।' इत्युक्त्वा तान्दर्शयति। तैर्भौतिकैस्तस्य खण्डं-खण्डं भक्षितम्। जिह्वायां लग्नम्। तैरुक्तम्—'भोरस्मानपि स्वर्गं नय यतो वयमपि स्वर्गं पश्यामस्तत्सत्कान्मोदकान्भक्षयामः'। ततस्तेनोक्तम्— 'सर्वेपि मया सह वाटिकामध्य आगच्छन्तु। प्रच्छन्नास्तिष्टन्तु।' यदा गौश्चरित्वाकाश उत्पतति तदाहं तस्याः पृच्छे लगिष्यामि। मम पादेन्येन तस्या अपरेण लगनीयम्। एवं सर्वैरपि श्रेणिः कार्या। एवं कृत्वा सर्वेप्युत्पतिताः। अर्धमार्गगमन एकेनाधःस्थेन सन्देहः पृष्टः। भोः स्वर्गे कियन्माना मोदकाः सन्ति। ततो मुखभरटकेन भृशं मूर्खेण गोः पुच्छं मुक्त्वा हस्ताभ्यां दर्शितम् भोरियन्मानास्ते सन्तीति। ततः सर्वेपि भूमौ पतिताः। एवमनवसरे सन्देहो न प्रष्टव्य। इति त्रयोदशकथा ॥१३॥

वाक्यतत्त्वमजानंश्च यथादृष्टप्रवर्तकः।
वैद्यपिट्टितपुत्रेक्षिजटिवद्राजते नहि ॥

कोरण्टकग्रामे बधिरो वृद्धो जडो वसति। तस्य शिष्यो वाधिर्यदूनस्तद्व्यपगमोपायान्मार्गयति। एकदा भिक्षायै स कश्यचिद्वैद्यस्य गृहे जगाम। पूर्वमपि च तस्य वैद्यस्य गृहेष्टवर्षीयो बालः पित्रा लेखशालागमनाय शिष्यमाणोस्ति। पित्रा बहु वादितोपि रोषात्स नोत्तरयति। ततः पित्रोक्तम् 'भोः किं न शृणोषि।' तथापि न वदति। ततो भृशं रुष्टेन पित्रा स्तम्भे दृढं बद्धः चपेटयता पिट्टितो वदति। 'तात शृणोमि

शृणोमि इति । द्वारस्थो भौतिकः श्रुत्वा विमृष्टवान् । बाधिर्यव्यपगमस्येदमेवौषधम् । मम गुरोरपि करोमि । मठ्यां गत्वा तथा कुर्वतः शिष्याल्लोकैर्बलात्कारेण गुरुर्मोचितः । प्रोक्तं चारे मूर्ख कुशिष्य कुतोतिजरसं स्वगुरुं पिट्टयसि । ततः स वक्ति 'यूयं मूर्खाः किं जानीथ । अहं स्वगुरोर्बाधिर्यव्यपगमौषधं कुर्वाणोस्मि । भवतां का नाम तप्तिः ।' लोकैरुक्तं । अरे इदमौषधं तव केनोक्तं । तेनोक्तं । मयाद्यैव वैद्यगृहगतेन बद्धेन स्वपुत्रस्य क्रियमाणं दृष्टं । तस्य बालकस्य तत्कालमेव गुणोभूत् । ततो लोकैर्विशेषत आकृष्टं । एवं बुद्धिमता न कार्यं ॥ इति चतुर्दशी कथा ॥१४॥

मूर्खेण विहितं कार्यमुपहासाय जायते ।
गुरुभार्यानयकस्य शिष्यस्यात्र निदर्शनं ॥

सूर्यपुरे पुरे मोकलिर्नाम जटी । तस्य चेटकः शिष्योस्ति भृशं मूर्खशेखरः । स एकदा गुरुणा भार्यानयनार्थं श्वशुरगृहे प्रहितः शिक्षा च दत्ता । यथा । भोस्त्वया तत्र गतेन गम्भीरेण भाव्यं । पंचोच्चानि पंच नीचानि वाच्यानि । इत्यादि । ततः स गुरुश्वशुरगृहे गत्वा तत्संबंधिभिः कुशलवार्त्तां पृष्टः सन् गुरोः शिक्षां हृदये निधाय प्रथममुच्चं प्रोक्तं । यथा पर्वत-पर्वत इति । ततो नीचं प्रोक्तं । यथा डोलि-डोलि रिति वक्रम् । यथा दात्रं दात्रम् इति । प्राग्वरं यथा वंश-वंश इति । गृहमध्ये गत्वोच्चं विलोक्य कोष्टिकामुपरि चटितः । ततो नीचं गर्तं विलोक्य तत्र पतितः । इति तत्त्वं पृष्टोपि न वक्ति । ततस्तैरनुमानेन विचारितम् । यथा । पुत्रीपतिर्भरटको वंशं छेत्तुं क्वापि वने पर्वते चटितो दात्रेण तं छिंदानो विस्खलितपादो (गर्ते) पपात । ततो मृतो भविष्यति । अयं स्पष्टं न वक्ति गंभीरत्वेन । तावता स भौतिकशिष्यः किंचिद्वसित्वा विच्छायवदनीभूतः । तं तथाविधं दृष्ट्वा सर्वैरपि तत्रत्यैः सहसा पृष्टश्चक्रे । यथा । 'हा दैव त्वया पापिष्टेन किं कृतम् इयं वराकी भरटिका रण्डिता । ततः सोपि मूर्खस्तेषां पूत्कारं श्रुत्वा रुरोद । द्वित्रिदिनानन्तरं स एवमेव स्वस्थान आगतो गुरुणा पृष्टः । भो भरटिका कस्मान्नानीता । स पूत्कारपूर्वं वक्ति 'सा वराकी रण्डिता ।' ततो गुरुरपि मुक्तकंठं रोदितुं प्रवृतः शिष्योपि च । प्रातिवेश्मकलोका मिलिता रोदनकारणं पप्रच्छुः । भरटको वक्ति—'भिक्षितोहम् ! मम वराकी भरटिका रण्डिता ।' लोका वदन्ति 'अरे मूर्ख त्वयि जीवति सा कथं रण्डिता ?' स वक्ति 'अहं किं जाने । अयं मच्छिष्यः सम्प्रत्येव तस्याः पितृगृहाच्छुद्धि त्वागतः । लोकैर्हसद्भिरुक्तम्—'भोः पत्यौ जीवति स्त्री रण्डा न भवति । स न मन्यते । ततोनेकैः शपथैर्दृष्टान्तैश्च बोधितः । इति पंचदशी कथा ॥१५॥

केचिज्जडधियः कार्ये पारम्पर्यं न जानते ।
पात्रपक्षद्वयात्क्षिप्ते घृततैले तपस्विना ॥

लक्ष्मीपुरे पुरे धक्कटो जटी यस्ति । तस्य मोढकः शिष्योतिमूर्खः । स एकदा गुरुणा घृततैलानयनाय हट्टे प्रेषितः । तेन तदर्थमेकमेव घृतैकडुच्छकं गृहीतं । तस्य कस्यचिद्वणिजो हट्टे मूल्यमर्पयित्वा घृतमेकस्मिन् पक्षे प्रथमं क्षेपितम् । पुनस्तैलं

विपर्ययं कृत्वा द्वितीयपक्षे क्षेपितम्। एवं मठ्यामगत्य गुरोर्दर्शितं कथितं च मया घृततैले आनीते स्तः। गुरुणोक्तम्—'क्व ?' तेन दर्शितम्—'इदं तैलम्।' गुरुणोक्तम्—'घृतं क्व ?' शिष्येन धूपदहनस्य विपर्ययं कृत्वा दर्शितम्—'इदं घृतमिति।' तावता तैलमपि भूमौ पपात। एवं द्वयमपि त्यक्तम्। एवं न कार्यम्॥ इति षोडशमी (?) कथा ॥१६॥

बहुनापि विचारेण न मूर्खस्तत्त्वमीक्षते।
यथा शण्डविषाणान्तः क्षिप्तमौलिर्जटी पुरा॥

मङ्गग्रामे सुविचारो नाम जट्यस्ति। स भिक्षार्थं कस्यचिद्गृहे याति। तस्य च गृहे एकं वृत्तशृङ्गं स्थूलवपुषं शण्डं पश्यति। ततः प्रतिदिनं विचारयति। किं मम मस्तकमेतस्य शृङ्गयोरन्तराले माति न वेत्यादि। एवं षण्मासो जगाम। ततः स चिन्तयति। अद्य क्षिपामि शिरः। मम तु विचारयतः षण्मासो गता। एतावद्विचारेण कार्यं कृतं सुकृतं भवति। विमृश्य शिरः क्षिप्तम्। तावता षण्डो बन्धनं त्रोटयित्वा पलायितः पुरमध्ये बभ्राम च। जटी तु तदग्रे लम्बमानो विरौति। तावता भूयांसो लोका मिलिताः। तैर्महता कष्टेन मोचितः। ततो लोकैश्चोक्तम्—'अरे मूर्ख त्वमविचार्यकार्योसि। स वक्ति। भवन्तो मूर्खा अविचारितकार्याश्च। मया त्विदं कार्यं षण्मासविचारेण कृतम्। ततो लोकैराक्रुष्टम्। एवं बुद्धिमद्भिर्न कार्यं। इति सप्तदशमी कथा ॥१७॥

न कार्यः केवलोद्घोषः पदच्छेदमकुर्वता।
वैद्यवाक्याद्यथा मूर्खो जटी गुरुमपिट्टयत्।

सुवालाग्रामे टिक्कको जटी। तस्यैक उद्घोषकः शिष्योभूत्। एकदा तस्य गुरुः श्लेष्मविकारेण भृशं पीडितः। ततः शिष्येन वैद्यपार्श्वे तदौषधं पृष्टं। वैद्येनोक्तं। यथा। गुड। दाडिम। सूंठि। मिरी। इति। ततो मार्ग आगच्छञ्छिष्य उद्घोषयति पदच्छेदमकुर्वाणः। ततो मठ्यासन्नगमने जातं यथा। गुडदा। डिमसुं। ठिमिरीति। ततो मठ्यामागत्य प्रथममाद्यं गुडदा इत्यौषधं कृतम्। ततोग्रेतनौषधद्वयार्थं पृच्छायै पुनर्वैद्यगृहे गतः शिष्यः पृष्टं च—'भो वैद्य, मया त्वदुक्तं गुडदा इत्यौषधं स्वगुरोः कृतम्। अग्रेतनस्य डिमसुं ठिमिरी तस्य कोर्थः। ततो वैद्येनोक्तम्। 'महामूर्ख पापिष्ट किं कृतम् ? त्वया वराको गुरुर्मुधा मारितः।' पश्चात्तदौषधचतुष्कं व्यक्त्या प्रोच्यार्पितं च स्वगृहात्॥ इत्यष्टादशी कथा ॥१८॥

अनभिज्ञे गुरौ तत्त्वं कथं वीक्षेत शैक्षकः।
विद्युतं वीक्ष्य जटिनौ विवादप्रवणौ यथा॥

सोहलग्रामे करमन्दो जटी। तस्योभौ शिष्यौ। तावेकदा निशायां मेघमालाच्छन्ने नभसि विद्युद्घोषं दृष्ट्वा विवदाते। यथा। एकेनोक्तम्—भोः पश्य-पश्य।

नभसि प्रदीपनं लग्नम् । तज्ज्वाला एता दृश्यन्ते । द्वितीयेनोक्तम्—मा मृषा वद । इयं शकटिकास्ति । अस्या ज्योतिश्चक्रं सर्वं शीतपीडितं तापयदस्ति । इत्यादिकलहं कृत्वा शिष्याभ्यां गुरुसमीपे सन्देहः पृष्टः—'भो गुरो किमिदमिति ।' गुरुरपि तद्दृष्ट्वा-जानन् स्वयमेव किंचित्कल्पयित्वा वक्ति—'भोः शिष्यौ, नेदं प्रदीपनम् । नैषा च शकटिका ज्वलंत्यस्ति । किं तु सूर्यो मुखं कंथयित्वा विलोकयन्नस्ति किं सुप्रभातं न वा इति । यदि प्रभातं भवति तदाहमप्युदयं करोमि नान्यथा । इत्युक्त्वा विवादो भग्नः ॥ इत्येकोनविंशतमी कथा ॥१९॥

अतिबोधेपि मूर्खस्य विस्मरत्येव धारितम् ।
यथा सङ्गिगणसचिवगुरोर्हि जटिनः पुरा ॥

ऋद्धपुरे सङ्गिणो मंत्री भृशं भौतिकभक्तोस्ति । एकदा तस्य गुरुर्गुग्गुलिनामा जटी देशान्तराद्बहुभिर्वर्षैर्यजमानबंदापनायायात एकं च श्लोकमाशीर्वादाय धारयित्वा । यथा ।

स धूर्जटिजटाजूटो जायतां विजयाय च ।
यत्रैकपलितभ्रान्ति करोत्यद्यापि जाह्नवी ॥

पुनर्मन्त्रिपुरस्तादागते जटिनि क्षोभवशाच्छ्लोको विस्मृतः । पश्चादुच्चैर्नीचैर्विलोक्य चेल्लकपार्श्वे पृष्टम् । भोः कथय कः श्लोकस्यादिः स वक्ति । टकारा बहवः सन्ति श्लोके । गुरुर्वक्ति । स्मृतः । यथा ।

फुट्-फुट् फुटा-फुटी फोटो जायतां वइजला इव ।

इत्यर्धोक्ते स्थित्वा पश्चात्त्रासतो बलीवर्दमहिषादर्शनेपरार्धे कल्पितं । यथा ।

यत्रैकबलद भइसि सांगण महता छइ भली ॥

मंत्री विस्मितः ॥ इति विंशतमी कथा ॥२०॥

विस्मारकः परस्य स्यादुपदेष्टा नरः कथं ।
उपदेष्टुं श्लोकयुगध्यायी भरटको यथा ॥

शम्बुकग्राम एको जटी वसति स्म । तत्रत्यस्यैकस्य यजमानस्य पुत्रः परिणीतः । महर्द्धिकत्वेन तत्र भूयांसो लोका मिलिताः । तदा गुरुणा भौतिकेन वधूवरयोर्देवांगणक उपदेशदानाय मंगलमयं श्लोकद्वयं पंचषैर्दिनैरुद्घोष्य धारितम् । पुनः पुनः परावर्त्यैव स्थिरीकृतम् । ततो देवांगणके बहुलोकसमुदायेन वधूवरयोर्गुरोर्वंदनार्थमागतयोर्या-वज्जटयुपदेशं दातुं प्रवृत्तः तावता क्षोभाच्छ्लोकद्वयमपि विस्मृत्य गतं । ततो बहूच्चैर्नीचैर्-विलोकनपूर्वं श्लोकस्मारणेपि यावता न स्मरति तावता विलक्षीभूतेन भौतिकेनोक्तम्—द्वयोर्भट्टिः पतु । ततो लोकस्तस्यातीवमौढ्यं मन्यमानो हासपूर्वमुत्थितः ॥ इत्येक-विंशतमी कथा ॥२१॥

संसर्गं नैव कुर्वीत प्रज्ञो विज्ञानवर्जितैः ।
सन्देहप्रश्नाज्जटिभिः सुधीर्धीरहितः कृतः ॥

पाडलपुरे नगरे देवशर्मणो द्विजस्य सोमशर्मा सुतोभूत् । स दक्षिणदिशि सरस्वतीलब्धप्रसादचंगदेवगुरोः पार्श्वे षोडश वर्षाणि यावता चतुर्दश विद्याः साङ्गोपाङ्गा अधीत्य पञ्चशतपुस्तकपृष्टवाड्भिः सह बहुपरिवारोपेतस्तं गुरुं मुत्कलाप्य स्वकीयपुरं प्रति चचाल । गुरुणा शिक्षा दत्ता । यथा । भोस्त्वया भरटकानां संगतिर्न कार्या ग्रामभट्टानां च । ततः शिरसि शिक्षां दत्त्वा सोमशर्मा यावता चलितो मार्गान्तराल आगच्छन् बेडाकग्रामे प्राप्तस्तावता वृष्टौ समागतायामन्यत्रोत्तारकाभावात्कस्यचिद्ग्रामभट्टस्य गृहे रात्रौ वासके स्थितः । पुस्तकगोण्यो गृहान्तरुत्तारिताः । रात्रौ ग्रामभट्टेन वार्त्तासु क्रियमाणासु ग्रामभट्टेन सन्देहः पृष्टः । यथा—"ऊंदिराणां तीतरी नाठी कांसा काणा" इति । एतस्य गद्यस्य पुरा बहूनामपि पंण्डितानां पार्श्वेथैः पृष्टः परं केनापि नोक्तः । गद्यं तु पूर्वपरंपरागतम् अतो यूयं कथयतार्थम् । ततः पण्डितेन तस्यार्थमजानानेन वार्त्तान्तरैस्तमाक्षिप्य रात्रिर्नीता । प्रातरग्रतश्चलते सः । द्वितीयदिने तु सूणकग्रामे समागतः पण्डितः । अपरत्र स्थानाभावाद्भरटकमठ्यामेव स्थितः । ततस्तैरपि तथैव सन्देहः पृष्टः । यथा । जथडि भंजंति भरड भसंगी मुखी गोरी उरि पांडुरी तायडि भंजंति भंभा देवी सपतपतालभसभम ॥ १॥ एतस्य श्लोकस्यार्थः पुरा केनापि पंडितेन नाकथि । अतो भवन्तः कथयन्तु । पण्डितस्तच्छ्लोकं श्रुत्वा तदर्थमजानानः श्यामास्यश्चिन्तयति । अहो अहं गुरुणा किमपि तथाविधं न भाणितो येन तल्लोकानामुत्तरदानेपि समर्थो भवामि । अतः किं गृहगमनेन । प्रथमकवल एव मक्षिकापातः । स्थानद्वयेपि सन्देहद्वयमकिञ्चिज्ज्ञैः पृष्टम् । तन्मध्ये एकोपि सन्देहो न ज्ञातो न च भग्न । ततः पश्चागद्त्वा पुनरध्येमि । इति विमृश्य पुनः पश्चाद्गुरुपार्श्वे गतः कथितं च गुरोः । भोः श्रीगुरुमिश्राः प्रभुभिरहं किं भाणितः । यतः स्वस्थाने गच्छतो मम सन्देहौ मूर्खाभ्यां पृष्टौ । तावपि न भग्नौ । ततोग्रतः किं गच्छामीत्युक्त्वा तत्संदेहद्वयं गुरोः पार्श्वे पृष्टम् । गुरुरपि न वेत्ति । ततो गुरुणा रात्रौ सरस्वतीमाराध्य तत्संदेहद्वयं पृष्टम् । ततो भारत्योक्तम् —'इद गद्यपद्यरूपद्वयं कूटं वर्तते । ततोर्थो न ज्ञायते । ततः शृणु । एतयोः सत्यः पाठो यथा । इंद्रियाणां तृप्तिर्नास्ति कस्मात्कारणात् । तथा ।

यत्र भुञ्जति भस्माङ्गो मूर्खो वा यदि पण्डितः ।
तत्र भुञ्जाम्यहं देवि सप्तलोको भवे भवे ॥

ततः सत्यपाठो गुरुणा प्रातः शिष्याग्रे प्रोक्तः । पुनः प्रोक्तम्—'अतः परं भवता सर्वप्रकारैर्ग्रामभट्टभरटकयोः संसर्गो वर्जनीयः । ततः सोमशर्मा गुरुवचसा कुसंगतिं वर्जयन् क्षेमेण स्वपुरे समागतः स्वविद्यया सर्वजनमान्योभूत् ॥ इति द्वात्रिंशतमी कथा ॥२२॥

यः कृतं नावबुध्येत कार्यकारी भवेन्न सः।
यथा जटी कर्षकस्य गुडमण्डकभक्षकः॥

विजयपुरे लोलयो नाम जटी। कस्मिन्नप्यवसरेक्षयतृतीयोत्सवे कस्यचित्कौटुम्बिकस्य गृहे भिक्षार्थं जगाम। तत्र भिक्षायां गुडमिश्रमण्डकं लेभे। स जटिना भक्षितः। तस्य जिह्वायां लग्नः। ततो द्वितीयदिने स तदर्थी सन् तस्यैव कौटुम्बिकस्य गृहे गतः। भिक्षायां दीयमानायां तदभावान्न गृह्णाति। ततो धनिकेन पृष्टम्—'भोः किं मार्गयसि?' स तन्नाभाजानानो मौनमालम्ब्य स्थितः। ततो बह्वीषां वेलायां स्वयमेव वक्ति—'कल्यसत्कं देहि।' पुनः पुनः तदुक्तो धनिकेनोक्तम्—'जातं जातं कल्यसत्कमेव न स्यात्। तद्बहूपक्रमेण भवति।' ततो जटी वक्ति—'यथा भवति तथा क्रियताम्।' ततो धनिकेन चिन्तितम्—'किमेतस्य वपुष्मतो लाभो न गृह्यत' इति। ततो धनिकेनोक्तम्—'मया सह गच्छ यथा कल्यसत्कं निष्पाद्यते।' तत कौटुम्बिको महद्बलं शिरसि निधाय तस्य मस्तके शंताशनभाण्डिकां स्थापयित्वा च क्षेत्रं जगाम। मार्गे गच्छता तेन भौतिकस्योक्तम्। भो यथाहं कथयामि तथा त्वया कर्तव्यम्। तेन मौढ्यादेवं ज्ञात यथाय वक्ति यथाहं करोमि तथा त्वयापि कार्यं इति। ततो गव्यूतप्रमाणे क्षेत्रे तौ द्वावपि गतौ। ततो धनिकेनातिभाराक्रांतेन महद्बलमुत्पाट्य भूमौ क्षिप्तं। भरटकेन स्वमस्तकस्था भाण्डिकापि तथैव क्षिप्ता। ततो धनिक क्रुद्धो रक्ताक्षो विरूपाणि भाषयामास। सोपि तथैव जजल्प। ततो धनिकोतिकोपात्प्राजनमुत्पट्य पिट्टनाय धावितः। सोपि हलमुत्पाट्य धनिकस्य पिट्टनाय धावितः। धनिको भीत्या गृहं प्रति मुष्टिं बद्ध्वा पलायितः। सोपि जटी पृष्टौ पलायितस्तथैव कल्यसत्कनिष्पत्तये। ततोग्रे गच्छतो धनिकस्य परिधानवस्त्रं कण्टकैर्लग्नं भीत्या न गृहीतम्। भौतिकेनापि तत्र यातेन निजपरिधानं छोटयित्वा तत्र मुक्तं। तत्र ग्रामासन्ने समागते कौटुम्बिके कयाचिद्धनिकया भक्ते गच्छन्त्या स्वोत्तरछदवस्त्रं कौटम्बिकाय दत्तम्। स तत्परिधाय गृहे गतः। ततोनन्तरागतेन भौतिकेन तस्याः परिधानवस्त्रं कर्षयित्वा परिहितम्। तथैव सोपि पृष्टौ लग्नः। तया तु कण्टकस्थं वस्त्रद्वयं परिहितम्। कौटुम्बिकः स्वगृहे गत्वा भीत्या वेपमानः कोष्टिकामध्ये प्रविष्टः। पृष्टागतो भौतिकोप्यपरकोष्टिकायां तथैव प्रविष्टः। एवं प्रहराद्यनन्तरं मध्यस्थो भौतिको वक्ति—'किं कल्यसत्कं निष्पन्नं न वेति।' ततो धनिको निर्भयीभूय निर्गतः। भौतिकोपि कर्षितः। पुनस्तथैव गुडमण्डकं दत्त्वा पादयोर्लगित्वा च मठिकां प्रति विसर्जितः प्रोक्तं च—'भोस्त्वयातः परं नागन्तव्यम्। एवं मूर्खा भवन्ति॥ इति त्रयोविंशतमी कथा॥२३॥

अविवेकी नरः प्रायः प्रोक्तोप्यर्थं न बुध्यते।
मक्षकयादिवचोग्राही भौतिकोत्र निदर्शनम्॥

राजपुरे पुरे केनापि गृहस्थेनासन्नग्रामस्था लोकाः सर्वेपि भोजनायाकारिताः। तेषां मध्य एको भौतिको मूर्खः समागतः। पंक्तावुपविष्टायां कट्टोरके गृहस्वामिना

पानीयं मुक्तम् । ततो भौतिकेन पार्श्ववर्तिजनपार्श्वे पृष्टं । भोः किमस्य नाम । तेनोक्तं । म झखि इति । ततो भौतिकेनार्चिति..... । ततः पञ्च सरसाः पदशुद्धिभया गणा मुक्ताः । तन्नामपृच्छायां प्रोक्तम् —'उगा' इति । पुनर्लवनश्रियाः परिवेषणे नाम्पृच्छायां चुप इति । भोजनादनु सर्वेषां ग्रामगमने भोजनव्याख्याने भौतिकेनोक्तं । यथा ।

मझखि पडी कटोरडइ उगा पडिया पंच ।
अवर न कांई मीठडुं जेहवी मीठी चुप्प ॥

इति चतुर्विंशतमी कथा ॥२४॥

परोक्तमात्रं यस्तथ्यं मन्यते बुद्धिवर्जितः ।
हसनीयः परेषां स शाखारूढो जटी यथा ॥

एलाकपुरे भूयांसो भौतिका वसंति स्म । तत्रैकदा वर्षासत्र एको दण्डको नाम भौतिकः स्वमठार्थं स्थूणानयनाय वने गतः । तत्रैकस्य वृक्षस्य भृशं प्राहवरां शाखां दृष्ट्वा छेदनाय तरोरुपरि चटितः । ततो भौतिकः स्वारूढशाखां मूले छेत्तुं प्रवृत्तः । ततः कैश्चिन्मार्गे गच्छद्भिः पथिकैस्तं तथा कुर्वन्तं दृष्ट्वा प्रोक्तम्—'भो भौतिक मूर्खराज मैवं शाखारूढः शाखां छिन्धि । यत एवं कुर्वतः शाखाच्छेदे पतिष्यसि मरिष्यसि च । इत्युक्त्वा पथिकाः स्वस्थाने गताः । भौतिकेन च तद्वचनमनाकर्ण्य तथैव स्थितेन सा शाखा छिन्ना भूमौ पतिता च । सोपि च तया सहैव पतितः स्वचित्ते चिन्तयति । पथिका ज्ञानिनः सत्यवादिनश्च । यतस्तदुक्तं सर्वं मिलितमिदमहमपि सत्यं मृत एव । ततः स भौतिको मृत इव भूमौ पतित्वा स्थितः । न जल्पति नोत्तिष्ठति न श्वसिति च । तत आसन्नस्थैर्लोकैरुत्थापितोपि नोत्तिष्ठति वादितोपि न वदति च । ततोपरजटिनां पुरस्ताल्लोकैरुक्तम् । यथा । भवतां दण्डको जटी मृत इव पतितोस्ति । इति भूयांसो भौतिका मिलिताः । तैर्दण्डको मृत इति ध्रिया संस्कारणाय यावता कियन्तं मार्गं नीयते तावदग्रे द्विमार्गो समागतः । तत एके कथयन्ति । वामतो यास्यते । अपरे च वदंति । दक्षिणतः । एवं सर्वेपि विवदन्ते । न केनापि निर्णयः स्यात् । तावता जम्पानस्थितेन भौतिकेनोक्तं । भो मा विवदत । वयं यदा जीवन्तौभूम तदा वाममार्गेणागच्छाम । तत कैश्चिदुक्तम् —'अहो अयं सर्वदा सत्यभाषी । एतदुक्तं सर्वं सर्वदा सत्यं भवति । ततो वाममार्गेण चलतेति । ततः सर्वेपि भौतिकास्तत्र चलिताः । तावता तत्रस्थैः पथिकैरुक्तं । यथा । 'भो भौतिका यूयं महामूर्खाः । एतस्य जीवत एव दाहाय चलिताः ।' तैरुक्तं—'अयं मृतः ।' पथिकैरुक्तम् । 'नायं मृतो यतो जल्पन्नस्ति । तावता तैर्जम्पानं भूमौ मुक्त्वा स तत्रस्थः पृष्टः पथिकज्ञानित्वादिकं सर्वं शपथपूर्वकं वक्ति । ततोपरे भौतिकाः सन्देहादेवमेव स्थिताः । ततः पथिकैर्महाकष्टेन प्रतिबोधिताः स्वस्थाने गताः । सोप्युत्थाय स्वस्थाने जगाम जनैर्हास्यमानः ॥ इति पञ्चविंशतमी कथा ॥२५॥

यत्तत्स्वकल्पितं मूर्खः शास्त्ररूपेण मन्यते ।
नदीतटस्थिता यद्वल्लेखप्रेषकभौतिकाः ॥

बइणपपुरे आशीर्धरो नाम मन्त्री भौतिकभक्तोभूत् । एकदा भूयांसो भौतिका ग्रामानुग्राममटन्तस्तत्र पुरपरिसरे समाजग्मुः । तदा वर्षाकाले भृशं वृष्टौ जातायामन्तरालवर्तिन्यां वेन्नानद्यां महापूरोजनि । तेन पूरेण रुद्धास्ते । सन्ध्यायां यावता बुभुक्षया म्रियमाणाश्चिन्तयन्ति स्म । यथा । यजमानाशीर्धरस्य मन्त्रिणो लेखप्रेषणेनास्मदागमनं ज्ञाप्यते यतः सोस्माकं बुभुक्षितानां सारां करोति स्म । अन्यथा बुभुक्षया मरिष्यत आत्मभिः । इत्यभिप्रायेण सर्वैर्मिलित्वा लेखो लिखितुं प्रारब्धा । तत एकेन पंडितस्थानीयेन लेखकेनोक्तम्—'लेखः किं संस्कृतेन लिखिष्यते प्राकृतेन वा ?' तावतैकेन गुरुस्थानीयेनोक्तम् —'भो मूर्खाः, स मंत्री भृशं विद्वानस्ति । अतस्तस्य संस्कृतलेख एव युक्तो न प्राकृतः । ततोपरैर्भौतिकैः स एव गुरु पृष्टो लेखयति । यथा । दस अट्ठ भरडक नदयल तड रह च्छ असरघर महत म कर जम भखन मरा । इति केवलाक्षरैः संस्कृततया कल्पितैर्लेखः प्रेषितः कस्यापि तारकहस्तेन । तेन नदीमुत्तीर्य स मन्त्रिणोर्पितः । ततो मन्त्रिणा लेखं वाचयित्वा चिन्तितं । अहो अस्मद्गुरूणां मौर्ख्यम् । अन्तर्हसता तेन ते सर्वेप्यन्नपानप्रेषणेन सन्तोषिताः ॥ इति षड्विंशतमी कथा ॥२६॥

दैवादापतिते लोकैर्व्यसने दूष्यते नरः ।
सर्वत्रापि यथा मार्गे मुषितो भौतिकः पुरा ॥

लोटाणकग्रामे कुटको नाम जटी जज्ञे । स एकदा गोदावरीतीर्थयात्रायै संघसार्थेन साकं चलितः । मार्गे गच्छतस्तस्य कुत्रापि विषमे चौरैः शकटं लुण्टितं । पश्चात्तापवान् स निर्गमितसर्वस्वो गृहे जगाम । लोकाश्च तद्ग्रामवास्तव्याः किटिकिट्यर्थं तस्य गृहं आगत्य पृच्छन्ति स्म—'आः भो भौतिक । किं जातम् ? कथं शकटं लुण्टितं ? क्व शकटमभूत् ?' ततो भौतिको वदति स्म— किं क्रियते । दैववशादेव जातम् । शकटं त्वग्रत एवाभूत् तथापि लुण्टितम् । पुण्यं कुर्वतोपि विरूपं लगति । तदा दैवस्यैव दूषणं इत्यादि ।' लोकैरुक्तम् —'अहो भौतिक । तत्वन्मौर्ख्यं यः शकटमग्रे करोषि । प्रायः प्रथमं चौरा अग्र एवापतन्ति ।' भौतिको वक्ति—'किं क्रियते । एवं जातम् ।' पुनरपरस्मिंल्लोकवृन्दे समागते तथैव पृच्छायां भौतिकेनोक्तं शकटं मध्येभूत् इति । ततो लोकैरुक्तम्—'अहो ते महती मूर्खता । को नाम शकटं मध्ये करोति । चौराणां भूमिस्तु सर्वदापि मध्य एव भवति' इत्यादि । पुनस्तृतीयलोकवृन्दपृच्छायां भौतिकेनोक्तं । यथा । शकटं पश्चादभूत् । पुनस्तैरुक्तम्—'अहो ते महामौढ्यम् । पश्चाच्छकटं को नाम करोति । चौराः सर्वेप्यग्रे सुभटभीताः पश्चाद्घटितं खटितं ग्रहीतुमापतन्ति ।' तदा जटिना तेषां वचनैर्भृशं रुष्टेनोक्तम् । यथा । 'भो लोकाः ।

आगलि लीजइ पाछलि लीजइ विचि लीजइ ।
काहउ रे लोको मां उरइ पेटि पइ सीजइ ।

ततः सर्वेपि लोका नवृत्ताः स्वस्थाने गताः ॥ इति सप्तविंशतमी कथा ॥२७॥

यथा तथा न कार्येषु गुरुणापि गुणार्थिना ।
मूर्खाः शिष्याः प्रयोक्तव्या यथा ते क्षेत्रसेचकाः ॥

मरुस्थल्यां चक्रपुरे नगरे विकटमिश्रनामा भरटकाचार्योभूत् । तस्य भूयांस शिष्याः स्थूलवपुषोभूवन् । महामूर्खाः

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः ।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानिसकृच्छकृत् ॥

इत्यस्य स्थाने

सिरिगिरि बोलति राणा ।
सिरिगिरि दीजति काणा ।
सिरिगिरि बोलति पंडिया ।
तीनरिता सिरिगिरि सिरिगिरि ॥

युधिष्ठिरस्याने जूठिलु इत्यादिमहाशुद्धपाठपराश्च । एकदा च काल एवस्यां वृष्टौ जातायां भौतिकभक्तैर्नगरवासिभिः कर्षणानि कृतानि । तानि रूढानि च प्रौढानि । पुनर्भाद्रमासे वृष्ट्यभावात्तानि शुष्कीभवन्ति स्म । तत आर्ता लोका आगत्य गुरुभ्यो विज्ञापयन्ति स्म । यथा । कदा वृष्टिर्भविष्यति इति । गुरुणापि भविष्यति भविष्यति इतिवचनात्कियद्दिनानि जना विप्रतारिताः । तत एकेन जनेनात्याग्रहात्पृष्टंगुरुभरत्तम्– एवं यद्यस्माकं भक्तिं करोषि तदा तव कर्षणे वृष्टिर्भविष्यति । ततस्तेन गुरो सा कृता । ततो गुरुणा चिन्तितम् – 'ममैतावन्तो यद्गुरुप्राया: शिष्या सन्ति ते कस्मिन्कार्ये समेष्यन्ति । कुतो लाभो न गृह्यते । कुतश्च महत्वं नोपार्ज्यते इति । ततो रात्रौ गुरुणा तदीयक्षेत्रं शिष्यपार्श्वाद्वापीतो वारि कर्षयित्वा सम्पूर्णं कारितम् । प्रातः स कर्षकः स्वक्षेत्रं जलपूरपूर्णं दृष्टवा विस्मितः स्वगुरोः प्रभावं लोकानां पुरस्ताद्वर्णयन् विशेषतो भक्तिं चक्रे । अपरेषु च लोकेषु तथैव गुरोर्भक्तिं कुर्वत्सु तदीयक्षेत्रेषु रात्रौ गुरुणा शिष्यैः सेककार्यं कृतम् । एवं लोकमध्ये गुरोर्महिमा जातः । एवं बहुदिनानन्तरमेकेन यजमानेन बहुभक्तिपूर्वं स्वक्षेत्रसेकाय विज्ञप्तं गुरोः । गुरुणोक्तम् । तवापि क्षेत्रेद्य वृष्टिर्भविष्यति । गुरुणा रात्रौ तस्यापि क्षेत्रं सेचितम् । एवं प्रत्यहं क्रियमाणे निरन्तर-जलकर्षणवहनोद्विग्नैः शिष्यैः प्रोक्तमेकदा । अतः परं यः कथयिष्यति स वहिष्यति । ततोपरलोकैस्ते शिष्यास्तत्वं पृष्टाः । तैः सम्यक् स्वरूपं सर्वलोकानामुक्तम् । ततो गुरुमहिमा सर्वोपि जगाम । एवं गुरुभिः शिष्या न प्रवर्त्तयितव्या ॥ इत्यष्टा-विंशतमी कथा ॥२८॥

स्वयमाचरितं मूर्खो विरूपं वक्ति शंकया ।
भौतिकोत्र यथा पूर्वं लंबकाणिप्रभाषकः ॥

वर्धनग्रामे सोमो नाम जटी वसति स्म । स एकदा स्वयजमानस्य लोहकारस्य गृहे भिक्षार्थं जगाम । तदा तद्गृहे विजने लोहकर्णक पतितं दृष्ट्वेतस्ततो विलोक्य तं लात्वा स्वमठ्यां समागात् । ततः स शंकयैव भिक्षायै तद्गृहे न कदापि याति । धनिकेन बहु विलोकितोपि कर्णको यदा न लब्धस्तदा पुनरन्यः कृतः । तस्य मनस्यपि न ·· । एवं बहुदिनेषु गतेषु धनिकेनाचिन्ति । मद्गुरुर्भिक्षायै कुतो नागच्छति । ततो यजमानेन भौतिको मार्गे मिलितो निमन्त्रितः । यथा । भो भवद्भिर्मद्गृहे भिक्षार्थं कस्मान्नागम्यते । भवतां केयं लंबकाणिः । ततो बहुवारमेवं कथ्यमाने भौतिकेन चिन्तितम्— 'नूनं वस्तु मयास्य गृहाद्गृहीतं तस्य लम्बकाणिरिति नाम । तदनेन ज्ञातम् । यतोयं यदा मिलति तदा एवमेव वदति यदुत भवतां केयं लम्बकाणिरिता । तर्हि यदीयं नार्पयिष्यते तदा न छूटिष्यते ।' तत एकस्मिन् दिने तेन स्वयमेवोक्तं । 'भोरियं लम्बकाणिर्मंवदीया या त्वया प्रतिदिनं मार्ग्यते सा मया भवदीया न ज्ञाता । तेन गृहीता । भवदीया चेत्तर्हि गृह्यतामिति ।' ततो धनिकेन धूर्तेन ज्ञातम् । 'योयं मम लोहकर्णो गतोभूत् सोनेन गृहीतः । तर्हि मार्गयामि ।' इति स मार्गित । तेन शपथपूर्वं प्रत्यर्पिते लोकैः स भौतिको हसितः । एवं न कार्यम् ॥ इत्येकोनत्रिंशतमो कथा ॥२६।

सुखेन वञ्च्यते मूर्खो वनितामि स्वकल्पनात् ।
उच्छङ्गरवासिन्या गेहिन्या भौतिको यथा ॥

करटकग्रामे बहिःस्थपर्वतोपरि मठ्यां कदाग्रही नाम भौतिको वसति स्म सभार्यः । स भौतिकः स्वभार्यायाः शीलं ग्रामम्ध्ये लोकानां पुरस्तादेवं वर्णयति । यथा । मद्भार्यायाः सदृश्यपरा सती नास्ति । तथा च ।

इकुपरि इकुपरि डुंगरडइ भाई ।
अवर न देखुं इसो भाई ।
उंचइ उंवइ कोइ न जाई ।

इति त्रिपदीं कथयता भौतिकेन लोकानां पुरः स्वभार्यायाः शीले वर्ण्यमान एकेन धूर्तेन चिन्तितम्—'नूनमयं मूर्खः स्नेहग्रथिलः स्त्रियः शीलं वर्णयति । स्त्रीषु किं शीलं ? यतः ।

काके शौचं द्यूतकारेषु सत्यं ।
सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता ।
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ॥

ततः स धूर्तस्तस्याः स्वरूपज्ञानाय मठ्यां गतः । दृष्टा भौतिकभार्या रूपवती । सापि तस्य सातिशयं रूपं दृष्ट्वा विजनं च ज्ञात्वा स भोगार्थं प्रार्थितः । तेनापि तस्या वचोंगीकृतम् । एवं तयोस्तत्रस्थयोः सहसा भौतिको ग्रामात्समागतः । तदंहिनिर्घातं

श्रुत्वा धूर्तो भीतस्तया कोणे क्षिप्तः । प्रोक्तं च ।भीस्त्वया न भेतव्यम् । तथा करिष्ये यथा तव विरूपं किमपि न भविष्यति । प्रतिदिनं त्वयाऽऽगन्तव्यम् । तेन च प्रतिपन्नम् । ततः सोत्थायागतो भौतिकस्य सम्मुखी गता । उक्तं च स्वपत्युः । स्वामिनः अद्य भवतामेकं महारिष्टं जातमभूत् । परं मया क्षेत्रदेवतायै पादयोर्लगित्वा तट्टालनाय विज्ञप्तं । ततो देवतयोक्तं । यदि तव भर्ता चक्षुषोः पट्टं कण्ठे च घण्टिकां बद्ध्वा इकुपरि इकुपरि भाइ इति पादत्रयमुच्चरन् फेरकत्रयं ददाति तदा सर्वमप्यरिष्टं यातीति । तस्या वचसा भौतिकेन तथा क्रियमाणे धूर्तः

आंखि पाटा गलि घंटा । अम्हे मढी माही—

ति चतुर्थपादम् उच्चरन्निर्गतस्त्वरितः । ततस्तृतीयफेरानन्तरं भौतिकेनोक्तम्— 'हे भद्रे कोयं याति ।' तयोक्तं । नाथ इदं भूतं महारिष्टं गच्छदस्ति । तेन च स्वीकृतम् । एवं स धूर्तः प्रतिदिनं तां भुक्त्वा याति । एवं कियद्दिनानन्तरमेकदा भौतिकेन लोकानां पुरस्तात्तथैव प्रोक्तं । इकुपरि भा० । ततो धूर्तेन चतुर्थपाद प्रोक्तः । यथा । आंखि पाटा० ॥ तच्छ्रुत्वा लोकैः स्वरूपं शीलं च तस्याः ज्ञातम् । तथापि मूर्खत्वेन भौतिको न वेत्ति स्म । मूर्खा ईदृशा भवंति ॥ इति त्रिंशतमी कथा ॥३०॥

यो येन बुध्यते कार्यं तं तथा बोधयेद्बुधः ।
दग्धकाकादिना भीता यथा विज्ञेन वारिताः ॥

मरुस्थल्यां सोलोकग्रामे बहवो भौतिका वसन्ति स्म । एकदा ते स्वचक्रपुरस्ताद्यजमानानां वन्दापनाय चलिताः । तैः सहैकः सुविचारः पण्डितोपि चलितः । एवं तेषां मार्गे गच्छतां मध्याह्नं जातम् । अतिबुभुक्षितैर्भौतिकैः सर्वतो भक्ष्यं विलोक्यमान एकं महद्धान्यक्षेत्रं दवाग्निदग्धं दृष्टं । तन्मध्येर्धदग्धान्बहून्काकान्दृष्ट्वा तेन गलमोटनपूर्वं खादितुं प्रवृत्ताः । ततः सुविचारेणोक्तम्—'आः पापैः किमारब्धम् । पूर्वं मांसमपि न खाद्यं किं पुनः काकसत्कं । इदं चंडालोचितं कर्म कस्मादारब्धं भवद्भिः ।' ततस्तैरुक्तं । 'काकाः खाद्या उक्ताः सन्ति । पंडितेनोक्तं । क्व । भौतिकैरुक्तं । मातृकायां । यथा । क ख ग घ ङ इति केति काकाः खेति खाद्याः गेति गलं मोटयित्वा घेति घनाः ङेति ङवद्वक्रीकृत्य ।' ततः सुविचारेणाचिन्ति । मूर्खा एते कल्पितात्प्रवर्तमानाः कल्पितेनैव वार्याः इति । ततश्चोक्तं । 'भो भौतिका भवतामग्रतो मातृकायाति । तैरुक्तं । नायाति । तेनोक्तं । तर्हि तत्रैवाग्रे त थ द ध नेत्यत्र निषिद्धमस्ति । तैरुक्तं । कथं । तेनोक्तं । तथेति तथापि दधेति दग्धाः न इति न खाद्याः । ततस्तस्य पण्डितस्य वचसा सर्वेपि भौतिकाः काकखादनतो निवृत्ताः । इत्येकत्रिंशतमी कथा ॥३१॥

कुर्वन्ति कलहं मूर्खाः स्वभावेनापि जल्पिते ।
पण्डितेन समं यद्वन्मेघवृष्टौ जटी पुरा ॥

देवरमणपुरे दिवाकरः पण्डितोभूत् । स एकदापि प्राकृतभाषया न वदति स्म ।

एकदा वर्षाकाले पण्डितोपरपण्डितेव समं ग्रामाद्बहिर्देहचिन्तार्थं गतोभूत् । यावता स ण्डतः स्वगृहं प्रत्यागच्छति तावतान्तराले मेघः प्रचुरधाराभिर्वर्षणाय लग्नः । ततः पण्डितोवाप्तः क्लेदनभयात् कस्यचिद्भौतिकस्य मठां प्रविष्टः स्वभावेनापि द्वितीय-पंण्डितस्योक्तम् । यथा । वर्षन्ति मेघाः । जटिना तद्वचः श्रुत्वाचिन्ति । नूनमयं विद्वान्मां दृष्ट्वा गुप्तगालिं ददानोस्ति । ततो भौतिक उत्थाय पण्डितस्य वस्त्रांचले विलग्नो वक्ति । मम गर्दभत्वेन गालिं कस्माद्ददासि । पण्डितेनोक्तं । कथं । तेनोक्तं । शृणु । यथा । वर्षति मेघा इति त्वयोक्तं । अग्रतस्त्वेवं ज्ञायते । यथा । ऊंधंति निद्रां आचरंति मेघा गर्दभाः । इति मां गर्दभं कुर्वाणोसि । पण्डितेनोक्तं । मैवं वद । अरे मया स्वभावे-नोक्तम् । भौतिको वक्ति । मा कूटं वद । त्वया मम गुप्ता गालिर्दत्ता । राज्ञोग्रे चल । एवं कलहं कुर्वाणो लोकैः कष्टेन वारितः । ततः पंडितो हृष्टो गृहे जगाम ॥ इति द्वात्रिंशतमी कथा ॥३२॥

हिन्दी अनुवाद

[भरटकों की बत्तीस कथाएँ]
भरटकद्वात्रिंशिका

हिन्दी अनुवाद

भरटकद्वात्रिंशिका

अर्हम् । श्री शारदा को नमस्कार ।

(अपने) ज्ञान के अनुसार देवों के देव तथा श्री गुरु को नमस्कार करके कौतूहल के कारण मैं भरटकों की बत्तीस कथाएँ लिख रहा हूँ ।

इस संसार में कल्याण चाहने वाले सभी पुरुषों को निःश्रेयस (मुक्ति) की प्राप्ति के लिये अच्छे आचरण के ज्ञान से अपने आपको उत्कृष्ट बनाना चाहिये । अच्छे आचरण का ज्ञान मूर्ख लोगों के चरित को समझने से होता है, जो अपनी बुद्धि से कुछ तो भी समझ कर काम कर बैठते हैं और अनर्थ का सामना करते हैं । इसलिये ऐसे मूर्खों के चरित को समझने के लिये तथा उससे बचने के लिये 'भरटकद्वात्रिंशिका' प्रारंभ की जा रही है । [इसकी पहली कथा] इस प्रकार है—

॥ पहली कथा ॥

प्रसन्नता के अवसर पर सब सबकी सहायता करते हैं, पर संकट में कोई किसी की सहायता नहीं करता । धनद सेठ के साथ यही हुआ । भारतवर्ष में श्रीश्रीपुर में महीपति नामक राजा था । वहीं पर अपने धन से धनद (कुवेर) को जीतने वाला धनद नामक सेठ भी रहता था । वह नगर का सबसे बड़ा सेठ था । उसकी पत्नी का नाम सुरूपा था, जो इतनी रूपवती थी कि सारी विद्याधरियों का रूप उसके आगे फीका लगता था । सेठ की उस पर गहरी प्रीति थी ।

एक दिन उस सेठ के घर झगटक नामक भरटक भिक्षा के लिये आया । जब सुरूपा उसे भिक्षा देने लगी, तो वह उसके अतिशय रूप के कारण विस्मित होकर आँखें फाड़-फाड़ कर उसे ताकता रह गया । भौतिक को इस तरह अपनी पत्नी को ताकता देख कर सेठ ने रुष्ट होकर कहा—'अरे मूर्ख, नीच भिक्षुक, अरे दुराचारी ! मेरी पत्नी को इस तरह क्यों घूरे जा रहा है ?' उसने भी रुष्ट होकर उत्तर दिया—'अरे सेठ । हम तो सहज भाव से देख रहे थे । हम निर्दोष हैं । फिर भी तुम ईर्ष्या के कारण हमारा अपमान करते हो । तो ठीक है, अब हम जबरजस्ती तुम्हारी पत्नी को लेकर ही तुम्हारे घर से जायेंगे, नहीं तो नहीं ।'—यों कह कर वह सेठ के घर के

द्वार पर अनशन करने बैठ गया। सेठ ने उसे बहुत जली-कटी सुनायी और ताने मारे, पर वह न उठा।

भरटक को अनशन पर बैठे कई दिन हो गये। तब सेठ ने अपने शुभचिंतकों, मित्रों, कोतवाल तथा राजा को खबर की कि भरटक उसकी पत्नी की माँग लेकर अनशन पर बैठा हुआ है—वह क्या करे? तो वे सब बोले—'अरे सेठ जी, आप अपनी पत्नी को बिल्कुल उसे मत देना। वह तो मूर्ख है। उसका सिर फिर गया है। इसीलिये कुछ तो भी अल्लम-गल्लम बक रहा है।' सेठ ने कहा—'वह अनशन के कारण मर जायेगा, तब क्या होगा?' मित्र आदि बोले—'भले अभी मर जाय। आपको कोई दोष थोड़े ही लगेगा। इस तरह कोई किसी की पत्नी माँग बैठे, तो दी थोड़े ही जाती है।' यह सुन कर सेठ प्रसन्न हो गया।

जब भरटक को अनशन पर बैठे और भी दिन बीत गये, तो घबरा कर सेठ ने सोचा—'यह तो समझ लूँ कि कहीं यह मर गया, तो मेरे मित्र आदि मेरी सहायता करेंगे भी, या ये केवल बात ही बात करते हैं। क्योंकि—

'जो व्यक्ति विपत्ति आने के पूर्व ही उपाय कर लेता है, वही अच्छा माना जाता है। जो विपत्ति स्वयं मोल ले वह अच्छा नहीं माना जाता।

वन में रहते-रहते मैं बूढ़ा हो गया, पर बिल के भीतर से इसके पहले मैंने कभी वाणी नहीं सुनी।'[1]

यह सोच कर परीक्षा के लिये सेठ पहले मित्र के पास गया और बोला—'सुनो मित्र, वह साधु भूख से मर गया। अब क्या करें। तुम मेरे साथ चलो। हम लोग जाकर कोतवाल को खबर कर देते हैं।' तब मित्र ने कहा—'सेठ, तुमने यह ठीक नहीं किया। उसे इस तरह क्यों मर जाने दिया? किसी तरह उसे उठा क्यों नहीं लिया? अब तो इससे आप पर बड़ा भारी दोष लग गया। यदि राजा को पता चलेगा, तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा।' सेठ ने कहा—'मैंने तो तुम्हारे और सबके सामने ही कहा था कि वह अनशन करते-करते मर जायेगा, और तुम सबने कहा कि मरता है तो मरने दो। तुम लोगों के ऐसा कहने की वजह से मैंने उसे नहीं उठाया। इसलिये अब तुम साथ चलो। हम कोतवाल आदि से सच-सच बता देते हैं, नहीं तो दूसरे लोगों से उन्हें इसका पता चलने पर वे अनर्थ कर डालेंगे।' तब मित्र ने सोचा—'इसने जो बुरा किया सो किया, इसके साथ जाने से मुझे भी दंड मिलेगा। इसलिये यहाँ से चुपचाप खिसक जाने में ही भलाई है।' यह सोच कर उसने कहा—

---

१. 'पञ्चतन्त्र' में 'काकोलूकीयम्' के अंतर्गत ग्यारहवीं कथा मे सियार का कथन, जब भूखा सिंह उसकी गुफा में बैठा होता है और वह सियार गुफा को पुकारता है, तो सिंह भीतर से उत्तर देता है।

'सेठ जी, आप आगे-आगे चलिये। मैं बस आ ही रहा हूँ।' सेठ जैसे ही आगे चला, वह चुपचाप पीछे से खिसक गया। तब सेठ ने सोचा—देखो, अब यह कैसा संकट आ पड़ा! मित्र भी मित्र नहीं रहा। तब वह कोतवाल और मंत्री के पास पहुँचा और उन्हें (भरटक के मरने की) खबर बतायी। उन दोनों ने भी सेठ को बहुत अधिक आड़े हाथों लिया। तब सेठ ने जा कर राजा से कहा, तो राजा ने भी कहा—'अरे सेठ, हमारे नगर में तुम ही मुखिया हो। यहाँ की सारी मरजाद तुम्हारे ही ऊपर है। सब तुम्हें मानते हैं। और तुम ही ऐसा अन्याय कर रहे हो, तब तो न्याय करने वाला कौन बचेगा? लगता है धन के लालच में तुमने ही उसे घर में पटक कर मार डाला, और अब हमारे आगे बेकार में रो गा रहे हो! नहीं तो भला कोई किसी की पत्नी को माँगता है! तो अब तुमको ही इसका दंड मिलना चाहिये।' और फिर राजा ने अपने सेवकों से कहा—'अरे सिपाहियों, तपस्वी की हत्या करने वाले इस पापी नीच सेठ को पकड़ कर बाँध लो। इसके घर का सब कुछ जप्त करके यहाँ ले आओ।' तब सेठ ने खिन्न होकर सोचा—'देखो, पहले इन्हीं लोगों ने मुझसे वैसा कहा था और अब उल्टा बोल रहे हैं। ये तो बड़े स्वार्थी और दूसरे की विपत्ति में मजा लूटने वाले लोग हैं। संसार में हर एक को अपनी ही पड़ी रहती है। सुख में ही सम्मिलित होने वाले लोग मिलते हैं, संकट में कोई सहायक नहीं होता। क्योंकि—

'लोग केवल मीठा-मीठा बोल कर ही मित्रता जताते हैं, समय आने पर सहायता कोई नहीं करता। यहाँ अपने बूते पर ही पेट भरना होता है, उसी के लिये धीर लोग वन में जा कर रहते हैं।'

तब सेठ ने राजा के आगे कहा—"हे महाराज, एक क्षण प्रतीक्षा कीजिये। एक बार घर जा कर अच्छी तरह देख लूँ। कहीं वह जीवित हुआ, तो आदर देकर उसे उठाये देता हूँ। मैं आया तब वह आखिरी साँसें ले रहा था।"

इस तरह सेठ के आगे और कोई चारा न रहा, तो घर आ कर वह भौतिक के पैरों से लगा, और विनीत वचन कह कर उसे उठाया। कहा—भैया, बहुमूल्य आभूषणों से सजी मेरी पत्नी को ले ले और भोजन कर ले। और भी जो कुछ धन-संपदा चाहिये हो, ले जा।

तब उसके वचनामृत से तृप्त हुए भौतिक ने सेठ से कहा—'अरे भाई, न हमें स्त्री से कुछ लेना देना है, न रुपये-पैसे से। हम ठहरे ब्रह्मचारी और फक्कड़। हमें तो तुम्हारी बात लग गयी, इसलिये हठ पकड़ कर यहाँ बैठ गये।' तब वह भोजन करके अपने स्थान पर चला गया। सेठ को आनंद हुआ। राजा आदि भी उसके बुद्धि वैभव से प्रभावित हुए।

॥ दूसरी कथा ॥

'जो स्वप्न में देखी बात के अनुसार काम कर बैठता है, वह मूर्ख बनता है, जैसा अपनी मठी को स्वप्न में स्वादिष्ट व्यंजनों से भरी देखने वाले साधु के साथ हुआ।'

नंदि गाँव में दुर्मति नाम का एक भरटक रहता था। वह गाँव भर में भीख माँग कर अपना पेट पालता था। एक बार शरद् ऋतु में वह किसी गृहस्थ के घर भिक्षा के लिये गया। गृहस्वामी ने उसे भैंस का ढेर सा शीतल और गाढ़ा दही दिया। हर्षित होकर वह अपनी मठी में आया और चटोरेपन के कारण सारा दही खा गया। उसके प्रभाव से रात को उसे बड़ी नींद आयी। नींद में उसने सपना देखा कि सारी की सारी मठी तरह-तरह के स्वादिष्ट व्यंजनों, खाद्य, पेय और रसोई की सामग्री से अटी पड़ी है। तो जाग कर उसने सोचा—'मेरी इस मठी में तो भोजन ही भोजन भरा हुआ है। मैं अकेला इतने सारे भोजन का क्या करूँगा? यह सब कहीं यों खराब न हो जाय। यहाँ के लोगों ने मुझे यथेष्ट भोजन दिया है, मैं आज ही सबको भोज दे दूँ और इनका ऋण उतार दूँ।'—यह सोच कर वह उठा और मठी में ताला लगा कर गाँव के सब लोगों को सपरिवार भोजन का न्यौता दे आया। गाँव में हर घर में सबने अपने-अपने चूल्हों में पानी डाल लिया। दोपहर हुई, तो सब लोग भोजन के लिये उत्सुक होकर आये और आसन बिछाने लगे। पाँत बैठ गयी। तब भौतिक ने मठी का द्वार खोल कर देखा तो कहीं कुछ नहीं। सारी मठी खाली पड़ी थी। उसने झटपट मठी का कोना-कोना छान मारा, पर भोजन होता, तो दिखता। तब वह बिस्तर बिछा कर स्वप्न देखने के लिये वैसे ही सो गया, जैसे रात में सोया था। लोगों की आँतें भूख से कुलबुला रही थीं। वे उसे पुकारने लगे, और कहने लगे—"सो क्या रहे हो, परोसते क्यों नहीं?" वह बोला—'अरे भाई लोगों, आप लोग तब तक प्रतीक्षा कीजिये, जब तक मैं इस मठी को जैसी कल सपने में देखा था, वैसे ही पकी रसोई से भरी हुई देखूँ। तब मैं सब भोजन लाला कर आप लोगों को भोजन कराऊँगा।' उसकी बात सुन कर लोगों को बड़ा गुस्सा आया और वे उसकी मूर्खता को कोसते हुए अपने-अपने घर लौटे, किसी तरह भोजन बना कर सबने पिछले पहर में खाया। इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति को स्वप्न में देखी बात के अनुसार काम नहीं करना चाहिये।

॥ तीसरी कथा ॥

अपना हित चाहने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को कभी छल-कपट नहीं करना चाहिये। उससे अनर्थ ही होता है, जैसा कन्या के इच्छुक भरटक के साथ हुआ।

गंगा के तट पर भीमपुर नामक नगर है। उसके आगे सुवर्णपुर है। उसमें

सुलोचन नामक अत्यन्त धनवान् सेठ रहता था। वह भौतिकों का बड़ा भक्त था। उसके पद्मिनी नामक पत्नी थी। उन दोनों का जीवन बड़ा सुखी था। उनके सात बेटे हुए और उन सात बेटों के ऊपर बहुत मनौती मानने के बाद रुक्मिणी नामक कन्या हुई। धीरे-धीरे वह बड़ी होने लगी। उसमें चौंसठ स्त्री-कलाएँ थीं और वह सब उत्तम लक्षणों से युक्त थी। घर के सब लोग उसे बहुत लाड़ करते थे।

भीमपुर से कुछ हट कर एक योजन दूर एक भौतिक-मठी थी। उसमें दमनक नामक साधु रहता था, जो बड़ा कुटिल था। उसके बहुत से चेले वहीं रहते थे। वह लोगों को कुछ तो भी भूत, भविष्य आदि बता कर प्रभावित कर लेता था और लोग उसका आदर करते थे।

एक बार सुलोचन सेठ ने उसे अपने घर भोजन के लिये बुलाया। वह भोजन करने बैठा तो उसके आगे ढेर सी रसोई परसी गयी। रुक्मिणी उसके ठीक सामने खड़ी होकर हाथ में कीमती पंखा उठाये उसे पंखा झल रही थी। पंखा झलने में उसके मणिजटित नूपुर, कंगन आदि आभूषण बज-बज उठते। यौवन ने उसके रूप को बहुत अधिक निखार दिया था। उसके तन पर रेशमी वस्त्र सरसरा रहे थे। उसका माथा रंगीन झिलमिलाते आँचल से ढका था और कंचुक में सफेद मोती जड़े थे। साधु ने उस सर्वांग-सुन्दरी को आँख भर कर देखा और काम पीड़ित हो गया — 'यदि इस मनुष्य लोक में ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ भी हैं, तो स्वर्ग में क्या धरा है? तप का भी बस यही प्रधान फल है। क्योंकि—

'हे चकोराक्षी प्रिया, यदि तू है, तो स्वर्गलोक के सुख से क्या? और यदि तू मेरे पास नहीं है, तो स्वर्ग लोक के सुख से क्या?'

हरि, हर, चंद्र, सूर्य आदि भी जैसे रस लेते हैं और इनका देवत्व बना रहता है, वसिष्ठ, गौतम आदि पत्नियों के साथ रहते हैं और यह इनके ऋषित्व के विरुद्ध नहीं माना जाता, उसी तरह मेरा भी इसके साथ ऋषित्व बना रहेगा। पर सेठ तो व्यवहार में बड़ा चतुर है, यदि इससे (इस कन्या को) माँगू तो किसी भी तरह देगा नहीं। यदि इसे (चुपचाप) उठा कर ले जाऊँ, तो ये लोग देख लेगें। इसलिए कुछ छल-प्रपंच रचना पड़ेगा। उसके बिना किसी और तरह से काम नहीं बनेगा।' यह सोच कर उसने अपना माया-जाल फैलाया। ठंडी साँस छोड़ी, मन में उस कन्या को ले जाने की चिन्ता में डूब कर भोजन आदि सब कुछ भुला दिया। इस तरह बैठ गया, जैसे मन शून्य हो गया हो। सेठ ने पूछा—आप इस तरह अचानक दुखी होकर ध्यान में क्यों डूब गये? भोजन क्यों नहीं कर रहे हैं?

उसने छलपूर्वक कहा—'अरे सेठ, जिस जजमान के घर ऐसी कुल का नाश

करने वाली कुलच्छिनी कन्या बैठी हो, वहाँ क्या खायें-पीयें ? इसके कुलक्षण देखते ही मेरे लिये यह भोजन जहर बन गया। अब तो लगता है तुरत उठूं और चल दूं।'

तब सेठ ने कहा—'गुरुदेव, इस लड़की के होते ही हमारे कुल में सब प्रकार से वृद्धि हुई है। आप ज्ञानी हैं। ऐसी उल्टी बात कैसे कह रहे हैं ?' तब वह बोला—'तुम्हारे कुल की तभी तक वृद्धि होगी, जब तक इसका विवाह नहीं हो जाता। उसके बाद यह तुम्हारे कुल और अपने ससुर का कुल—दोनों का क्षय करेगी।'

सेठ की बुद्धि उसकी बात से चकरा गयी। उसने साधु की बात पर विश्वास भी कर लिया और घबरा कर बोला—'आप सर्वज्ञ हैं। हमारे कुल गुरु हैं। आप ही सही सलाह दीजिये कि अब क्या किया जाय।'

तब उसने कहा—'हम ठहरे तपोधन और ब्रह्मचारी। हम तो इस के विषय चर्चा से ही दूर रहते हैं।' सेठ ने अत्यंत आदर के साथ उसके पैर पकड़ लिये और बार-बार अनुरोध किया, तो उसने कहा—'हाँ, उपाय तो हम बता देंगे, पर तुम उसे कर न पाओगे।'

सेठ ने कहा—'ऐसा क्यों कहते हैं ? आप सदा हमारा हित करने वाले हैं। आपकी बात हम भला क्यों नहीं मानेंगे ?' फिर वह बार-बार बताने से मना करता रहा। अन्त में बोला—'ठीक है सेठ, तो फिर उपाय सुन लो। कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के दिन इसे अच्छे गहने पहना कर, चंदन-कपूर आदि से इसका तन सजा कर, सुन्दर वस्त्र पहना कर एक लकड़ी की सन्दूक में बन्द कर गंगा में फेंक कर बहा दिया जाय। फिर रात को हवन कराया जाय। ऐसा करने पर यह ससुराल वालों के लिये ही अनर्थकारिणी होगी—तुम्हारे कुल के लिये नहीं।' फिर उसी दिन उसने (होम की) सारी सामग्री तैयार करायी, और अपनी मठी में आ कर शिष्यों से कहा—'हे शिष्यों, कृष्ण चतुर्दशी के दिन मुझे एक मंत्र साधना है। उसके सधने पर मेरी भक्ति से संतुष्ट गंगा देवी मुझे प्रातः सूर्योदय बेला में उपहारों से भरी एक संदूक प्रदान करेगीं। तुम लोग सावधान रहना और गंगा के प्रवाह के बीच जब वह बह कर आती दिखे, तो उसे खींच कर निकाल लेना। फिर उसे बिना खोले मठी में ला कर रख देना है।'

शिष्यों को यह सिखा कर कृष्ण चतुर्दशी का दिन आने पर वह रात में हवन-शांति के लिये सेठ के घर गया। शिष्य नदी के तट पर जा खड़े हुए। इधर अपने सात बेटों के साथ शोक से व्याकुल सेठ ने साहस करके जैसा गुरु ने बताया, वह सब किया। फिर रात के ढलते-ढलते सेठ ने वह संदूक गंगा के बीच में फेंक दी। फिर अपने परिवार के साथ वापस घर आ कर वह दुःख मनाने लगा।

इधर भोर होते-होते वह संदूक भीमपुर से आ लगी। उस नगर के राजा पुण्यसार के नौकर गंगा के किनारे मंजन करने आये, तो संदूक बहती देख कर उसे उठा कर राजा के आगे ले आये। राजा ने संदूक का ढक्कन खुलवाया, तो ऐसी रूपवती कन्या को उसमें देख अत्यंत विस्मित होकर अपने मंत्री से पूछा—'क्यों भाई मंत्री जी, यह क्या ?' तब मंत्री ने उस कन्या से पूछा—'तुम कौन हो ? किसकी बेटी हो ? और यहाँ कैसे आ गयीं ?' लज्जा से मुँह झुकाये हुए उसने कहा—'मैं स्वर्णपुर के निवासी सुलोचन सेठ की प्यारी बेटी हूँ। हमारे कुल के गुरु दमनक नामक साधु ने जैसी जो सलाह दी उसके अनुसार पिता ने मुझे इस तरह गंगा में फेंक कर बहा दिया। और मैं कुछ नहीं जानती।" मंत्री अपनी बुद्धि से सच्ची बात जान गया और उसने राजा को बताया। तब राजा ने उस कन्या को अपने पास रख लिया और संदूक में एक बंदरिया डाल दी। फिर उस संदूक को उसी तरह बंद करके राजपुरुषों के द्वारा गंगा की धार में बहा दिया। राजपुरुष छिप कर पीछे लगे रहे।

जैसा उस साधु ने शिष्यों को बताया था, उन्होंने संदूक को खींच कर निकाल लिया। फिर उसे वैसी ही बंद रख कर मठी के बीच में रख आये।

साँझ होते ही साधु ने नहा धोकर अच्छे कपड़े पहने और आनंद से फूल कर कुप्पा होता हुआ उस कन्या से मिलने के लिये चला। जाते-जाते उसने शिष्यों से कहा—सुनो, आज हम मंत्र साधने के लिये मठी के बीच रहेंगे। साधना में बड़े विघ्न आने वाले हैं। इसलिये तुम लोग मठी से बाहर दूर हट कर सावधान होकर रहना। खबरदार, मठी का द्वार मत खोलना।'

इस प्रकार भोग के इच्छुक उसने जब संदूक का ढक्कन खोला, तो उसमें बँदरिया निकली, जो बहुत अधिक भूख से पीड़ित और इस तरह बंद कर दिये जाने से रिसायी हुई थी। वह उस भौतिक का नाक, कान आदि नोंचने लगी। तब मठी में बंद भौतिक चिल्ला उठा और शिष्यों को पुकारने लगा। पर शिष्य तो आज्ञाकारी थे, उन्हें उसने पहले ही रोक दिया था, इसलिये वे नहीं आये। तब बड़ी कठिनाई से वह स्वयं द्वार खोल कर बाहर निकला। राजपुरुष छिपे हुए यह सब देख रहे थे। उन्होंने उसे बाँध लिया और राजा के आगे ले गये। राजा ने उसे देश निकाला दे दिया और वह सर्वगुण संपन्न कन्या राजा की पटरानी बनी। उसके प्रभाव से राजा के राज्य की वृद्धि हुई और वह बाद में अपने पिता से मिली, सारे कुटुंब में बड़ा आनंद हुआ।

॥ चौथी कथा ॥

गुरु के उपदेश के बिना जो मनमाने ढंग से काम करता है, उसका उपहास होता है, जैसा साधु के मूर्ख शिष्य के साथ हुआ।

वर्धमानपुर नगर में श्रीभट नामक भरटक था। उसके धीजड नामक महामूर्ख शिष्य था। वह एक बार नगर में भिक्षा माँगने गया। वहाँ उसने किसी सूत्रधार के घर में देखा कि सूत्रधार एक बहुत टेढ़े बाँस में तैल और उबटन लगा कर आग के आगे उसे तपा-तपा कर सीधा कर रहा है। उसको वैसा करते देख कर उस धीजड ने सूत्रधार से पूछा—'यह क्या कर रहे हो?' उसने उत्तर दिया—'टेढ़े बाँस को सीधा कर रहे हैं।' तब धीजड ने सोचा—मेरे गुरु भी बात-विकार से टेढ़े हो गये हैं, उनका भी उपचार इसी तरह हो सकता है।' फिर वह मठी में पहुँचा और अपने गुरु के तैल और उबटन मल कर उसे बहुत अधिक अग्नि में तपाने लगा। ताप से घबरा कर बेचारा गुरु चीखने लगा। उसकी चीख-पुकार सुन कर बहुत सारे लोग जमा हो गये और धीजड को मना करने लगे। कहा—'अरे मूर्ख अपने गुरु को इस तरह परेशान मत कर। ऐसा ही करता रहा, तो इस बिचारे बूढ़े के प्राण ही निकल जायेंगे।' लोगों के इस तरह बार-बार चिल्लाने पर उसने उत्तर दिया—'तुम लोग ही सब मूर्ख हो और तुम्हारे माँ-बाप भी ऐसे ही मूर्ख रहे। मेरे गुरु टेढ़े हैं, मैं उन्हें सीधा कर रहा हूँ, तो तुम लोगों को इससे आँच क्यों लग रही है?' तब लोगों ने उसे गालियाँ देते हुए किसी तरह जबरजस्ती गुरु को छुड़ाया। बुद्धिमान को ऐसा नहीं करना चाहिये।

॥ पाँचवीं कथा ॥

तप, जप, कर्मकांड, पाठ और गुणों के बिना भी कुछ लोग यथेष्ट भोजन-पान प्राप्त कर लेते हैं, जैसा जटाधारी के शिष्यों के साथ हुआ।

गोदक गाँव में सरडक नाम का भरटकों का गुरु था। उसके बहुत सारे शिष्य थे। वे न तो कुछ पढ़ते थे, न गुनते, न कोई काम करते थे, बल्कि या तो सोते रहते या आपस में बातचीत करते या फूहड़ किस्से कहते सुनते रहते। पर उस गाँव के लोग इतने मूर्ख थे कि उन्हें बहुत गुणवान् मान कर होड़ बद-बद कर बड़े आदर से उन्हें भोजन, वस्त्र आदि देते। प्रतिदिन खूब आहार-विहार आदि के कारण वे शिष्य भैंसों जैसे मोटे-तगड़े हो गये थे।

उसी गाँव में ग्रामभट्ट नामक ब्राह्मण रहता था। वह उस गाँव का कवि था। उसने विद्याध्ययन भी किया था। पर उसे गाँव में माँगे भीख न मिलती। उन मोटे मुस्टंड शिष्यों को देख कर एक बार उस ग्राम-कवि ने यह श्लोक कहा—

भरटक तव चट्टा लंबपुठ्ठा समुद्धा
न पठति न गुणंते नेव कव्वं कुणंते।
वयमपि च पठामो किंतु कव्वं कुणामो
तदपि भुख मरामो कर्मणां कोत्र दोष :।

[हे भरटक, तुम्हारे चेले लंबे और ऊँचे हैं। वे न पढ़ते-गुनते हैं, न कवित्त बनाते हैं। हम पढ़ते भी हैं और कवित्त भी बनाते हैं। फिर भी हम भूखे मरते हैं। यह हमारे किस कर्म का दोष है ?]

यह श्लोक वह जगह-जगह लोगों के सामने सुनाता और लोग सुन कर आश्चर्य करते। [फिर भी न उसकी स्थिति बदली, न भरटक के शिष्यों की।]

॥ छठीं कथा ॥

अपने कष्ट को जैसे-तैसे दूसरों के आगे बताने वाले दुखी होते हैं। पहले के समय (छप्पर को) डोरी से बाँधने वाले जटाधारी के साथ यही हुआ।

विकट नामक गाँव में सोमक नामक भरटक रहता था। वह एक बार वर्षा आने पर अपनी मठी के ऊपर फूस छा कर उसके ऊपर डोरी बाँध रहा था कि सिर के बल नीचे गिर पड़ा। उसे बड़ी चोट आयी। देह में घाव हो गये। उसकी पीड़ा देख कर लोग हाल चाल पूछने आने लगे। जब वे पूछते—क्यों भाई, क्या हो गया, चोट कैसे लग गयी ?—तो वह मूर्ख उठ कर, जैसे गिरा था, वैसे करके उन्हें बताता। इस तरह बार-बार गिरने से उसकी चोट और बढ़ गयी। हर आदमी को वैसा करके दिखाते-दिखाते उसकी यह स्थिति हो गयी कि उठ भी नहीं सकता था। फिर भी लोग हाल पूछने आये, तो वह उनसे बोला—अब तो तुम्हारे बाप ही तुम्हें वैसा करके दिखायेंगे।' तब लोग हँसते हुए अपने-अपने घर चले गये।

॥ सातवीं कथा ॥

सुख चाहने वाले गुरु को मूर्ख शिष्य नहीं बनाना चाहिये; वह बड़ा दुःख देता है, जैसा बड़े खाने वाले शिष्य ने अपने गुरु को दिया।

कटेरक नामक गाँव में लुंठक नाम का साधु था। उसके कुंठक नाम का शिष्य था, जो महामूर्ख भी था और खाऊ भी। एक बार किसी यजमान के घर कोई त्यौहार था, तो उसे वहाँ से भिक्षा में बत्तीस बड़े मिले। मठी की ओर लौटते समय उसे रास्ते में भूख लगी। वह सोचने लगा—इतने बड़े मिले हैं, तो गुरु मुझे इसमें से मेरे हिस्से के आधे तो देंगे ही। तो मैं अपना आधा हिस्सा यहीं खा लूँ। यह सोच कर वह सोलह बड़े खा गया। उसके बाद उसने फिर सोचा—इतने में से भी गुरु मुझे आधे देंगे ही, इसलिये अपना आठ बड़ों का आधा हिस्सा खा लूँ। इस तरह वह आठ बड़े और खा गया। यों करते-करते गुरु के सामने पहुँचा, तब उसके पास आधा ही बड़ा था। गुरु ने कहा—यह क्या ? क्या आज यजमान ने इतनी सी भिक्षा दी ? उसने कहा—'उसने तो बत्तीस बड़े दिये थे, पर वे मैंने खा लिये।' गुरु ने कहा—कैसे ? तब उस शिष्य ने बाकी बचे आधे बड़े को भी गुरु के देखते-देखते मुँह में डाल

लिया और कहा—'मैंने ऐसे खा लिये।' गुरु स्वयं भूखा ही रह गया। लोगों को इस बात का पता चला, तो उन्हें अचरज हुआ।

॥ आठवीं कथा ॥

कोई व्रत लेकर जो अपनी मरजी से कुछ भी करने लगते हैं, वे दुःख पाते हैं, जैसा गन्ने खाने वाले साधु के साथ हुआ।

मल्लानक नामक गाँव में निस्सग नाम का साधु रहता था। अंतिम वयस में आकर वह धर्मार्थी हो गया और उसने व्रत ले लिया कि किसी की भी वस्तु बिना उसकी अनुमति के नहीं लेगा। एक बार नगर के बाहर घूमते हुए उसने गन्ने के खेत में रसीले गन्ने देखे। गन्ने देख कर उसके मुँह में पानी भर आया। उसने अनुमति लेने के लिये पुकारा—'क्यों भाई खेत, क्या मैं तुम्हारे तीन-चार गन्ने ले लूँ?' फिर स्वयं ही खेत की ओर से उत्तर दिया—'हाँ हाँ, पाँच ले लो।' इस प्रकार स्वयं अनुमति प्राप्त कर उसने पाँच गन्ने तोड़ लिये। अब वह रोज ऐसा ही करने लगा। तब खेत के मालिक को शंका हुई—'ता नहीं कौन पापी मेरे खेत से गन्ने चुरा कर ले जाता है। तो आज छिप कर देखूँगा।'—यह सोच कर वह खेत में छिप कर बैठ गया। जब साधु आकर उसी तरह गन्ने तोड़ने लगा, तो उसने सामने आकर उसे हड़काया। साधु ने कहा—अरे भाई, क्रोध मत करो। मैंने तो जब भी गन्ने लिये, अनुमति लेकर ही लिये। खेत के मालिक ने पूछा—'सो कैसे?' तब साधु ने गन्ने ले जाने का अपना तरीका उसे बताया। खेत के मालिक ने क्रोध से फन-फनाते हुए उस साधु को कस कर बाँधा और कुएँ के पास ले जाकर पुकारा—अरे भाई कुएं, बताओ, इस पगले को तीन डुबकियाँ लगवाऊँ कि चार?—'फिर कुएँ की ओर से उत्तर दिया—'पाँच लगवा दो।'—ऐसा कह उसने साधु को बहुत परेशान करने के बाद किसी तरह छोड़ा और सीख दी कि आगे से ऐसा न करे।

॥ नवीं कथा ॥

अपने द्वारा छिप कर किये निन्दनीय कार्य मूर्ख व्यक्ति शंका के कारण स्वयं बता देता है, जैसा राजा से सम्मानित साधु के साथ हुआ।

सुप्रभपुर में रिपुमर्दन नामक राजा था। उसी नगर में धरटक नाम का एक बड़ा ही कंगाल भरटक रहता था। वह एक बार रुपया कमाने परदेस गया। वाराणसी नगरी में एक दिन वह दिन भर भोजन के लिए भटकता रहा, पर कहीं से भोजन न मिला। फिर रात हो गयी और वह भूख से मरने लगा, तो किसी धोबी के घर पहुँचा। धोबी के घर श्राद्ध था। गृहस्वामी ने उसे भोजन का निमंत्रण दिया। साधु के सामने कोई चारा न रहा, तो उसने वहीं भरपेट भोजन कर लिया। बाद में समय

बीतने पर वह अपने नगर लौट आया। भाग्य कुछ ऐसा अनुकूल हुआ कि राजा उसे बहुत मानने लगा, उसे राजकृपा मिली और वह राजपुरोहित बन बैठा।

एक बार उस नगर में बाहर के कलावंत नर्तकों की एक मंडली आयी। उसने राजा के आगे अपनी कला दिखायी। राजा ने प्रसन्न होकर उसे बहुत सारा दान दिया। राजपुरोहित को राजा बहुत मानता है—यह देखकर उस नटमंडली ने अगले दिन रात को उस पुरोहित के घर नाटक खेला। बहुत सारे लोग देखने आ जुटे। तब उस नटमंडली ने तीन प्रहर तक कई रूप और रसों से युक्त नाटक खेला जिसमें गीत, अंगहार, अंगविक्षेप और हस्तमुद्राओं के कई प्रकार प्रस्तुत किये। पर उस परममूर्ख और पाषाणप्राय पुरोहित को उस नाटक को देखने से न तो कोई कौतूहल हुआ और न उसने उस मंडली की कुछ भेंट-पूजा ही की। तब (उस मंडली के) सूत्रधार ने परेशान होकर सोचा—निश्चय ही यह (राजपुरोहित) महामूर्ख है तथा सरस कथाओं का रस लेने की इसमें बिल्कुल क्षमता नहीं है। तो फिर इसके आगे मूर्खों का मन बहलाने के योग्य कोई घटिया सा नाटक ही दिखाता हूँ, जो इसके मन में कौतुक जगा सके और उसको देख-सुन कर यह संतुष्ट होकर दान दे दे। यह सोच कर उसने यह गीत गाया—

कहिसु भरडक जं जं कीऊं।
(कह दूँ क्या भरटक, जो जो तुमने किया ?)

यह गीत सुन कर उस भरटक को शंका हुई—लगता है यह सूत्रधार मेरे वाराणसी में उस धोबी के घर भोजन करने की बात सचमुच जानता है। कहीं यह इतने लोगों के सामने वह बात कह ही न दे। यह सोच कर उसने सूत्रधार को स्वर्ण के आभूषणों और रेशमी वस्त्रों का ढेर सा दान दे दिया। अब तो सूत्रधार को उससे धन लेने का उपाय मिल गया। उसने दूसरी बार फिर वही गीत गाया। भरटक ने फिर दान दिया। फिर उसने तीसरी बार वही गीत गाया। चौथी बार भरटक क्रुद्ध होकर अपना दुश्चरित स्वयं प्रकट करते हुए बोल पड़ा—अरे सूत्रधार, बार-बार क्या धमकाते हो कि कह दूँ क्या भरटक, जो जो तुमने किया—जाओ, जो कहना हो कह दो। भूख से मरते हुए हमने वाराणसी में एक धोबी के घर भोजन किया था। यही कहना है न—तो कह दो। हम तो इससे ज्यादा कुछ भी न देंगे।' यह सुन कर सभी लोग विस्मित हुए और नाटक विसर्जित कर दिया गया।

॥ दसवीं कथा ॥

जो व्यक्ति व्यवहार नहीं जानता, उसकी बुरी गति होती है। वह अपनी जगहँसाई कराता है, जैसा साँड दुहने वाले साधु के साथ हुआ।

सुस्थित नामक गाँव में बहुत से भरटक रहते थे। एक बार वे भिक्षा के लिये निकले, तो किसी गृहस्थ के घर घी और शकर से मिश्रित खीर उन्हें मिली। उन्होंने वह खीर खायी। उसका स्वाद उनकी जीभ से लग गया। उन्होंने अपने यजमानों से पूछा कि यह वस्तु बनती कैसे है। उन लोगों ने भरटकों को खीर बनाने की पद्धति बतायी। तब उन लोगों ने एक गाय मोल ली, जो अभी-अभी ब्याई थी और दुर्बल थी। तब दूसरे भरटकों ने उनसे कहा—अरे मूर्खों, तुमने यह ऐसी दुबली गाय क्यों ले ली? इसके तो थन बहुत छोटे हैं, यह थोड़ा ही दूध देगी। उसको वापस कर दो और कोई दूसरी मोटी-तगड़ी बड़े थनों वाली गाय लेकर आओ। तब उस गाय को लेकर पाँच साधु मिल कर गोशाला पहुँचे और गोशाला के मालिक से उन्होंने कहा—'इसको लेकर हमें दूसरी गाय दो।' उसने कहा—'इतनी गायों में आपको जो पसंद हो, उसे ले जाइये।' तब उन महामूर्खों ने सारी गायें देखीं, सभी उन्हें दुबली लगीं और उनको छोड़ उन्होंने एक मोटा साँड़ गाय समझ कर ले लिया। उसको अपने घर लाकर अब सारे साधु मिल कर दुहने लगे, पर एक बूँद भी दूध न निकला। तब वे और भी प्रयास के साथ दुहने लगे। साँड़ को कष्ट पहुँचा तो वह उन्हें लतिया कर भागा। तब वे हतबुद्धि होकर सोचने लगे—क्या बात है, इससे दूध क्यों नहीं निकलता? तब एक महाबुद्धिमान् बूढ़ा साधु बोला—"अरे भरटकों, तुम लोग कारण नहीं समझ रहे हो।" तब दूसरों ने पूछा—"क्या कारण है जी?" जब उन्होंने उसके पैर लग कर पूछा, तब उसने बताया—'इस गाय के थनों में छेद नहीं है, इसीलिये दूध नहीं निकल रहा।" बाकी साधुओं ने कहा—"सच है रे, सच है।" तब उन्होंने एक साधु की जटाओं से उस साँड के अगले पैर बाँधे और दूसरे की जटाओं से पिछले। फिर एक साधु सुई लेकर साँड़ के अंडकोश में छिद्र करने चला। तभी वह साँड़ उछल कर फिर भागा। साधुओं की जटाएँ (जो उसके पाँवों में बँधीं थीं) टूट गयीं। लोग-बाग हो-हो-करके उनकी खिल्ली उड़ाने और हँसने लगे। तब वे भरटक 'अरे, हमारी गाय भागी जा रही है—हमारी गाय भागी जा रही है—इस तरह चिल्लाते हुए साँड़ के पीछे दौड़े। उनके देखते-देखते वह साँड़ वन में भाग गया। तब उन साधुओं ने मिल कर आपस में विचार किया—"यह गाय तो कुछ अच्छी नहीं थीं। अब नयी गाय लेंगे। यह तय करके उन्होंने पाँच सौ द्रम्म (सिक्के) इकट्ठे किये और अपने बीच से एक भौतिक को एक सार्थ (काफिले) के साथ बढ़िया गाय खरीदने दूसरे गाँव भेजा। रात होने पर सार्थ के पाँच व्यापारियों के साथ वह भौतिक एक मंदिर में सो गया। आधी रात होने पर बाकी लोग तो नींद में खर्राटे भरने लगे, वह भौतिक जागता रहा। इसी समय वहाँ चोर आ घुसे। उस भौतिक के फटे-पुराने कपड़े और फक्कड़ स्थिति देख कर कहा—"अरे इसे क्या लूटें? यह तो कोई कंगाल सो रहा है। चलो, और कहीं चलते हैं।" उनकी बात-चीत सुन कर उस साधु ने कहा—'कंगाल हो तुम लोग और तुम्हारे बाप कंगाल हैं। मैं तो धनी

हूँ। मेरे पास पाँच सौ द्रम्म हैं।'—यह कह कर अपनी गाँठ में बाँधे सिक्के बजा-बजा कर दिखाने लगा और फिर बोला—'यदि अभी भी विश्वास न हो रहा हो, तो इन व्यापारियों से पूछ लो।' तब उन चोरों ने उसे झपट कर पकड़ा और पहले उसे लूटा, फिर उसके साथ के सब लोगों को। वे लोग उसे गालियाँ देने लगे। भौतिक अपना सिर खुजलाता हुआ घर लौट आया। ऐसा नहीं करना चाहिये।

॥ ग्यारहवीं कथा ॥

जो स्वयं मूर्ख और आलसी हो तथा दूसरे की कही बात का बिना विचारे भरोसा कर ले, वह दुःख पाता है, जैसा पहले शीत से पीड़ित साधु के साथ हुआ।

कुरड गाँव में धरड नाम का एक मूर्ख भरटक था, जिसके एक बड़ा आलसी शिष्य था। एक बार शीत ऋतु में जब बड़ा कड़ा जाड़ा पड़ रहा था, वह भौतिक आधी रात में पेशाब करने मठी के बाहर निकला। निपट कर बहुत अलसाया होने के कारण नींद में झपकी लेता वह बिस्तर समझ कर वहीं पास में गिर पड़ा। पिछले पहर में जब जाड़ा बहुत अधिक लगा, तो वह कुनकुनाने लगा और शिष्य को पुकारने लगा—"अरे शिष्य, मैं अपनी मठी के भीतर बिस्तर पर ही हूँ न ?"—बाहर से आती उसकी पुकार सुन कर उतने ही आलसी शिष्य ने हाथ से गुरु का बिस्तर टटोला, तो बिस्तर पर सोये कुत्ते की पूँछ उसके हाथ में आ गयी। तब उसने पूछा—"अरे गुरु जी, आपके पूँछ है या नहीं ?"—यह सुन कर गुरु ने हाथ से अपनी कछौटी सँभाली और बताया—'हाँ, हाँ, मेरे एक पूँछ तो है।' तब शिष्य ने कहा—'तब तो आप मठी के भीतर अपने बिस्तर पर ही हैं।' उसकी बात का भरोसा करके अपनी मूर्खता के कारण वह वहीं पड़ा रहा और शीत में जकड़ कर मुर्दे जैसा हो गया। सबेरे वहाँ लोग इकट्ठे हो गये और उसे इस तरह पड़ा हुआ देख कर पूछने लगे—'अरे भाई, क्या बात हो गयी ?" शिष्य कहने लगा—'मुझे कुछ पता नहीं।' कुछ देर में धूप लगने पर भौतिक को होश आया और लोगों ने उसे उठाया। लोगों को बड़ा कौतुक हुआ।

॥ बारहवीं कथा ॥

चतुर वैद्य को चाहिये कि रोग का नुस्खा मूर्ख व्यक्ति को न बताये। जैसे कि वैद्य ने अतिविष की औषधि बतायी और शिष्य ने विष देकर गुरु को मार डाला।

कोलक गाँव में जूटक नाम का बूढ़ा साधु था। उसे एक बार तेज बुखार आया बड़ा कष्ट हुआ, संनिपात बहुत बढ़ गया, तो उसके शिष्य ने वैद्य के घर जाकर दवाई पूछी। 'वैद्य ने बताया कि थोड़ा सा अतिविष उकाल कर पिला दो। लौटते समय रास्ते में शिष्य ने सोचा—"मेरे गुरु बहुत कमजोर हैं। वे एकदम से अतिविष

को न झेल पायेंगे। इसलि पहले तो विष देता हूँ, फिर भी बुखार न टूटा, तो अतिविष दे दूंगा।"—यह सोच कर उसने गंधी (दवाई वाले) की दूकान से विष लिया और उसे घोल कर गुरु को पिला दिया। उससे गुरु की तत्काल मृत्यु हो गयी। लोगों ने शिष्य की निंदा की। ऐसा नहीं करना चाहिये।

॥ तेरहवीं कथा ॥

अपना संदेह समय देख कर ही पूछना चाहिये, जब तब नहीं। नहीं तो कामधेनु की पूंछ से लटके साधुओं के जैसी स्थिति होती है।

इस कहानी से बुद्धिमान् व्यक्ति को यह सीखना चाहिये कि जब किसी मतिमंद के पीछे लोभी लोग लगे हों, तो वह उनका अनुगामी न बने।

सुघोष नामक गाँव में बहुत से साधु रहते थे। उनके बीच एक सर्वपशु नामक जटाधारी रहता था। उसने एक बगिया लगायी। कुछ ही वर्षों में वह बगिया दिव्य वृक्षों, पुष्पों और फलों से भर गयी और स्वर्ग के बगीचे जैसी बन गयी। उसमें रात को कामधेनु आकर चरती थी। सबेरा होने पर वह उड़ कर फिर स्वर्ग चली जाती। धनी साधु ने देखा कि उसकी बगिया प्रतिदिन उजाड़ होती जा रही है, तो (पता लगाने के लिये) वह एक रात सावधान होकर वहाँ ठहरा रहा। रात में गाय आयी। सारी रात उसकी बगिया चरने के बाद पिछले पहर में उसे स्वर्ग जाती देख साधु उसकी पूंछ से लटक गया और स्वर्ग जा पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने रसीले लड्डू खाये और छक कर उनका रस लिया। अगले दिन उसने केसर मिश्रित एक लड्डू साथ ले लिया, और उस (कामधेनु) को पूंछ से लटक कर अपनी बगिया में लौट आया। सुबह वह अपने घर पहुँचा, तो उसे दूसरे साधु मिले। उन्होंने पूछा—"तुम कहाँ चले गये थे ?" वह बताने लगा—"मैं स्वर्ग गया था। वहाँ इंद्र, चंद्रमा, शिव, गणेश आदि देवता देखे। और इस तरह के लड्डू खाये।" यह कह कर उसने उन्हें लड्डू दिखाया। उन भौतिकों ने उस लड्डू के टुकड़े चखे। उसका स्वाद उनकी जीभ में लग गया। वे कहने लगे—अरे भाई, हमें भी स्वर्ग ले चलो, हम भी स्वर्ग देखेंगे और वहाँ के लड्डू खायेंगे।' तब उसने कहा—'तुम सब लोग मेरे साथ बगिया में चलना और वहाँ छिपे रहना। जब गाय चर कर आकाश में उड़ने लगेगी, तब मैं उसकी पूंछ से लटक जाऊँगा। मेरे पाँवों से एक लटक जाय और उसके पाँवों से दूसरा। इस तरह सब मिल कर नसैनी बना लेना।

उन सबने ऐसा ही किया और (स्वर्ग की ओर) उड़ चले। आधे मार्ग में लटके एक साधु ने अपना संदेह पूछा—'अरे भाई स्वर्ग में कुल कितने लड्डू होंगे ?" सबसे आगे वाले महामूर्ख भरटक ने गाय की पूंछ छोड़ कर दोनों हाथों से दिखाया—इतने लड्डू हैं।' तब तक सभी धरती पर गिर पड़े। इसलिये असमय में संदेह नहीं पूछना चाहिये।

॥ चौदहवीं कथा ॥

किसी के द्वारा कही गयी बात का तत्त्व (पूरा प्रसंग) बिना समझे हुए जैसा देखा उसी के अनुसार काम करने वाला व्यक्ति बुरा बनता है, जैसा वैद्य के द्वारा पीटे जाते पुत्र को देख कर काम करने वाले साधु के साथ हुआ।

कोरंटक गाँव में एक बहरा, बूढ़ा साधु रहता था। उसका शिष्य उसके बहरेपन से बड़ा दुःखी रहता और उसका इलाज ढूँढ़ता रहता। एक बार वह भिक्षा के लिये किसी वैद्य के घर गया। इसके पहले वैद्य अपने घर में आठ वर्ष के बालक को पाठशाला जाने के लिये कह रहा था। पिता के द्वारा बार-बार कहने पर भी रूठा हुआ बच्चा उत्तर नहीं दे रहा था। तब पिता ने कहा—'क्यों रे, सुनता नहीं है?' फिर भी वह कुछ न बोला। तब बहुत अधिक क्रोध में भर कर पिता ने उसे खम्भे से अच्छी तरह बाँधा और तमाचे मार-मार कर पिटाई की तब बच्चा कहने लगा—'पिता जी, मैं सुन रहा हूँ।' द्वार पर खड़े भौतिक ने यह देखा और सोचा—'अरे, बहरापन दूर करने की दवा यह है। अब मैं अपने गुरु का यही इलाज करूँगा।' मठी में पहुँच कर वह वैसा ही करने लगा। बाकी शिष्यों ने अपने गुरु को जबरजस्ती छुड़ाया और कहा—अरे मूर्ख, कुशिष्य, अपने अत्यंत वयोवृद्ध गुरुजी की क्यों इस तरह पिटाई कर रहा है?' तब उसने कहा—'तुम जोग सब मूर्ख हो, तुम क्या समझोगे? मैं तो अपने गुरुजी का बहरापन दूर करने के लिये उनका इलाज कर रहा हूँ। तुम लोगों को इससे क्यों आँच लग रही है?' लोगों ने पूछा—'अरे यह इलाज तुझे बताया किसने?' उसने कहा—'मैं आज एक वैद्य के घर गया, वहीं वैद्य को अपने लड़के का इसी तरह इलाज करते देखा। उसके लड़के को भी इससे तुरन्त लाभ हुआ।' तब लोगों ने उसे और भी बुरा-भला कहा। बुद्धिमान व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिये।

॥ पन्द्रहवीं कथा ॥

मूर्ख जब कोई काम करता है तो उससे उपहास ही होता है। जैसा गुरु की पत्नी को लिवाने गये हुए शिष्य के साथ हुआ।

सूर्यपुर में मोकलि नाम का साधु था। उसके एक मूर्ख शिरोमणि चेटक नाम का शिष्य था। एक बार गुरु ने अपनी पत्नी को लिवा लाने के लिये उसे ससुराल भेजा। भेजते समय उसे सीख दी—देखो भैया, वहाँ पहुँच कर तुम्हें गंभीर हो कर रहना है। और पाँच ऊँच-नीच की बातें करनी हैं।' अब वह (गुरु की) ससुराल पहुँचा, तो सम्बन्धियों ने कुशल समाचार पूछा। उसने गुरु की सीख मन में रख कर पहले ऊँची वस्तु का नाम लिया,—कहा—'पर्वत! पर्वत!!' फिर नीची वस्तु का नाम लिया—'डोलची! डोलची!!' फिर कहा—'दराती! दराती!' फिर ऊँची

चीज का नाम लिया—'बाँस !' फिर वह घर के बीच पहुँच कर ऊपर देख कर एक कोठी के ऊपर चढ़ गया। उसके नीचे एक गड्ढा देख कर उसमें कूद गया। सम्बन्धियों ने पूछा कि बात क्या है तो (गंभीर रहना है, ऐसा गुरु ने कहा था—'यह सोच कर) चुप रहा। तब उन लोगों ने अनुमान से विचार किया—हमारा दामाद भरटक बाँस काटने कहीं वन में गया, पर्वत के ऊपर चढ़ा, दराती से बाँस काटते समय पाँव फिसल जाने से किसी खाईं में गिर पड़ा—(यही यह कहना चाहता है)। तो अब तो (हमारा दामाद) मर चुका होगा। तभी तो यह इतना गम्भीर है, कुछ कह भी नहीं रहा।' तभी वह भौतिक का चेला थोड़ा-सा हँस कर एकदम से मुँह लटका कर रह गया। उसकी यह स्थिति देख कर वे सब लोग बुक्का फाड़ कर रोने और विलाप करने लगे—'अरे पापी विधाता, यह तूने क्या किया। यह बिचारी भरटिका राँड हो गयी।' उनको रोता देख कर वह मूर्ख भी रोने लगा। दो तीन दिन बाद वह वापस अपने गाँव लौटा, तो गुरु ने पूछा—'क्यों भैया, हमारी भरटिका को क्यों नहीं लाये ?' वह बुक्का फाड़ कर रोता हुआ कहने लगा—'वह विचारी तो राँड हो गयीं।' तब गुरु भी गला फाड़-फाड़ कर रोने लगा और साथ में शिष्य भी। तब अड़ोस-पड़ोस के लोग आये और उनसे रोने का कारण पूछने लगे। भरटक ने कहा—'हम तो बर्बाद हो गये। हमारी विचारी भरटिका राँड हो गयी।' लोगों ने कहा—अरे मूर्ख, जब तू जीवित है, तो वह कैसे राँड हो गयी ?' वह बोला—'हम क्या जाने ? यह हमारा चेला अभी-अभी उसके बाप के घर से उसकी खबर लेकर आया है।' लोग हँसने लगे और बोले—'अरे भाई, जब तक पति जीवित रहे, स्त्री राँड नहीं होती।' भरटक मानने को तैयार न हुआ। उन लोगों ने किसी तरह उसे शपथ खा-खा कर, उदाहरण दे-देकर समझाया-बुझाया।

॥ सोलहवीं कथा ॥

कुछ मूर्ख बुद्धि लोग किसी भी कार्य में आगा-पीछा नहीं सोचते, जैसा साधु ने घी और तैल एक ही पात्र के दो हिस्सों में डाल कर किया।

लक्ष्मीपुर नाम के नगर में धक्कट नाम का साधु था। उसके मोढक नाम का अत्यन्त मूर्ख शिष्य था। एक बार गुरु ने उसे घी और तैल लाने के लिये बाजार भेजा। उसने इसके लिये एक ही कड़छू खरीदी। फिर किसी बनिये की दूकान पर दाम देकर उसके एक तरफ घी लेकर डाल लिया। फिर तैल लिया और उसे उलटा कर दूसरी तरफ तैल डाल लिया (जिससे सारा घी बह गया।) अब वह मठी में पहुँचा और गुरु को दिखा कर बोला—'मैं घी और तैल दोनों ले आया।' गुरु ने पूछा—'कहाँ हैं ?' तब उसने दिखाया—'यह रहा तैल।' गुरु ने पूछा—'घी कहाँ है ?' शिष्य ने फिर कड़छू उलट कर दिखाया—'यह रहा घी।'—तब तक तैल भी

भूमि पर बह गया। इस तरह दोनों वस्तुएं नष्ट हो गयीं। ऐसा नहीं करना चाहिये।

॥ सत्रहवीं कथा ॥

बहुत विचार करने पर भी मूर्ख व्यक्ति उचित बात नहीं समझ पाता, जैसा पहले साँड के सींगों के बीच सिर देने वाले साधु के साथ हुआ।

मंग गाँव में सुविचार नामक साधु था। वह भिक्षा माँगने प्रतिदिन किसी के घर जाता था और वहाँ एक गोल सींगों वाले मोटे-तगड़े साँड़ को देखता। वह प्रतिदिन विचार करता—'मेरा सिर इसके सींगों के बीच समायेगा या नहीं?' इस तरह छः महीने बीत गये। तब एक दिन उसने सोचा—'अब आज सिर दे ही दूँ, आखिर मुझे विचार करते-करते छः महीने हो गये हैं। इतना विचार करके जब काम किया जाय, तो वह अच्छा काम ही होता है।'—यह सोच कर उसने अपना माथा (साँड के दोनों सींगों के बीच) घुसा दिया। साँड (घबरा कर) रस्सी तुड़ा कर भागा और गाँव के बीच दौड़ने लगा, साधु उसके आगे लटका-लटका चिल्लाने लगा। तब तक बहुत से लोग इकट्ठे हो गये। उन्होंने बड़ी कठिनाई से उसे छुड़ाया और फिर बोले—'अरे मूर्ख, तू बिना सोचे-विचारे कुछ भी काम कर बैठता है।' उसने कहा—'तुम लोग सब मूर्ख हो और बिना विचारे काम करने वाले हो। मैंने तो यह काम छः महीने तक विचार करने के बाद किया है।' लोगों ने उसकी निन्दा की। बुद्धिमानों को ऐसा नहीं करना चाहिये।

॥ अठारहवीं कथा ॥

शब्दों को अलग-अलग समझे बिना केवल ध्वनियों को नहीं दोहराना चाहिये, नहीं तो जिस तरह वैद्य के वाक्य से मूर्ख साधु ने अपने गुरु की पिटाई की, वैसी स्थिति होती है।

सुवाला गाँव में टिक्कट नामक साधु था। उसके उद्घोषक नाम का एक शिष्य था। एक बार उसका गुरु कफ-विकार के कारण बहुत बीमार हो गया। शिष्य ने वैद्य के पास जाकर इलाज पूछा। वैद्य ने नुस्खा बताया—गुड़, दाडिम (अनार), शुण्ठि (सोंठ) तथा मरीचि (काली मिर्च)। रास्ते में लौटते हुए शिष्य वैद्य के शब्द बिना समझे दोहराने लगा, तो मठी तक आते-आते उसे यह याद रहा—गुड़दा, डिमशुं, ठिमरीचि। मठी में आकर उसने पहले गुड़दा (लोहे की छड़) की दवा अपने गुरु को दे डाली। अब आगे का दो दवाइयाँ क्या हैं—यह पूछने के लिये फिर वैद्य के घर गया और पूछने लगा—'वैद्य जी, आपने जो पहली दवा गुड़दा बताई दी, वह तो (लोहे की छड़ से पीट कर) मैंने गुरुजी को दे दी, अब आगे जो आपने डिमशुं

और ठिमरीचि—ये दो दवाइयाँ बताईं थीं, इनका क्या अर्थ है—यह बता दीजिये।' तब वैद्य ने कहा—'अरे महामूर्ख पापी, यह तूने क्या किया ? तूने व्यर्थ ही विचारे गुरु को पीट डाला।' फिर वैद्य ने उन चारों दवाइयों का नुस्खा अपने घर से तैयार कर एक व्यक्ति को समझा कर उसके हाथ भिजवाया।

॥ उन्नीसवीं कथा ॥

जब गुरु ही अज्ञानी हो, तो शिष्य तत्व कैसे जान सकते हैं ? जैसा बिजली देख कर विवाद करने वाले दो साधुओं के साथ हुआ।

सोहल गाँव में करमंद नामक साधु था। उसके दो शिष्य थे। एक बार रात में जब आकाश बादलों से घिरा था, तो बिजली चमकती देख कर वे विवाद करने लगे। एक ने कहा—'अरे देख, देख, आकाश में आग लगी है। उसी की लपटें दिखाई दे रही है।' दूसरे ने कहा—'बस, बस, अधिक झूठ मत बोल। यह तो छकड़ा है, इसके चारों ओर मशालें जल रही हैं, जिससे शीत से पीड़ित लोग आग ताप लें।' इस तरह लडते-झगड़ते वे गुरु के पास पहुँचे और अपनी शंका गुरु को बतायी—'गुरुजी, यह वस्तु है क्या ?' गुरु ने भी बिजली चमकती देखी, उसे भी पता न था कि यह क्या है, तो उसने अपने मन से कुछ कल्पना करके बताया—'हे शिष्यों, न तो यह आग लगी है, न यह जलती हुई गाड़ी है। यह तो सूरज अपना मुँह उघाड़ कर बार-बार देख रहा है कि सबेरा हो गया कि नहीं, यदि सबेरा हो गया हो, तो मैं उगूँ, नहीं तो न उगूँ।' यह कह कर उसने उन दोनों का झगड़ा निपटाया।

॥ बीसवीं कथा ॥

मूर्ख व्यक्ति कितना भी चिल्ला-चिल्ला कर रटे, याद की हुई बात भूल जाता है, जैसा मंत्री सांगण के गुरु भौतिक के साथ हुआ।

ऋद्धपुर में सांगण नाम का मंत्री भौतिक का बड़ा भक्त था। एक बार उसका गुग्गुलि नामक गुरु यजमान से अपने पाँव पुजाने के लिये अनेक वर्षों बाद वहाँ आया। आते समय उसने एक श्लोक याद किया, जो इस प्रकार था—

स धूर्जटिजटाजूटो जायतां विजयाय च।
यत्रैकपलितभ्रान्ति करोत्यद्यापि जाह्नवी॥

[शिव का वह जटाजूट तुम्हें विजय दिलाये, जिस पर गंगा सफेद लट का भ्रम उत्पन्न करती है।]

मंत्री के सामने आते-आते घबराहट में वह यह श्लोक भी भूल गया। तब उसने ऊपर और नीचे देखा और अपने चेले की ओर दृष्टि डाल कर कहा—

अरे, श्लोक का पहला चरण तो बता। उसने कहा—गुरुजी, उस श्लोक में ट-ट कई बार आता है। तब गुरु ने कहा—अरे, याद आ गया। यह था वह श्लोक—

'फुट् फुट् फुटा फुटा फोटौ जायतां वइजला इव।'

इतना आधा बोल कर वह ठहर गया। फिर वहीं बैठे बैल और भैंस को देख कर उसने अगला चरण जोड़ा—

यत्रेक बलद भइंसि सांगण महता छइ भली।'

मंत्री (ऐसा श्लोक सुन कर) चकित रह गया।

॥ इक्कीसवीं कथा ॥

जो स्वयं भुलक्कड़ हो, वह दूसरे को उपदेश क्या देगा? उपदेश देने के लिये श्लोक युगल याद करने वाले भरटक की यही स्थिति हुई।

शंबुक ग्राम में एक साधु रहता था। उसके एक यजमान के पुत्र का विवाह हुआ। यजमान बड़ा धनी था, इसलिये (विवाह में) बहुत सारे लोग एकत्र हुए। तब उनके गुरु उस भौतिक ने देवालय में वधू-वर को उपदेश देने के लिये दो श्लोक पाँच दिन तक रट-रट कर याद किये। बार-बार उन श्लोकों को दोहरा कर पक्का किया। अब देवालय में लोगों का बहुत बड़ा समुदाय इकट्ठा हुआ और वर-वधू गुरु की वंदना के लिये लाये। गुरु उन्हें उपदेश देने चले, तो घबराहट में दोनों ही श्लोक बिखर गये। उसने बार-बार ऊपर-नीचे देखा और श्लोक याद करने का प्रयास किया, पर जब वे याद न आये, तो बहुत खिसिया कर उसने वर-वधू से कहा—'भाड़ में जाओ तुम दोनों।' तब लोगों को लगा कि यह तो बड़ा मूर्ख है और वे हँसते हुए उठ खड़े हुए।

॥ बाईसवीं कथा ॥

ज्ञानी व्यक्ति अज्ञानी लोगों के साथ संगति न करे, नहीं तो वैसी स्थिति होती है जैसी साधुओं के द्वारा संदेह पूछने से बुद्धिमान् शिष्य की हुई।

पाटलपुर नामक नगर में देवशर्मा नामक ब्राह्मण के सोम शर्मा नामक पुत्र था। उसने दक्षिण देश में जाकर गुरु चंगदेव के यहाँ सोलह वर्ष तक अध्ययन किया। चंगदेव पर सरस्वती की कृपा थी। सोम शर्मा ने उनसे चौदह विद्याएँ सांगोपांग रूप में पढ़ीं। अध्ययन समाप्त करके उसने गुरु से विदा ली और पाँच सौ पुस्तकें लदवा कर कई लोगों को साथ लेकर वापस अपने नगर की ओर चला। (चलते समय) गुरु ने उसे सीख दी—'देखो, भरटकों और गाँव के भाटों की संगत मत करना।' गुरु की इस सीख को सिर माथे पर रख कर सोम शर्मा चल पड़ा। मार्ग

में बेड़ाक गाँव आया तो वृष्टि होने लगी और किसी जगह सामान उतारने वाला न मिला, तो (विवश होकर सोमशर्मा ने) उस रात गाँव के एक भाट के घर ही डेरा डाला। पुस्तकों के गट्ठर घर के भीतर उतरवा कर रखवा दिये। रात में भाट से चर्चा होने लगी, तो भाट ने अपना एक संदेह उसके सामने रख दिया—

'उंदिराणां तीतरी नाठी कांसा काणा।'

इस वाक्य का हमने कई बार कई पंडितों से अर्थ पूछा, पर कोई न बता पाया। यह वाक्य पूर्व परंपरा से प्राप्त है। अब आप ही इसका अर्थ बताइये।" पंडित (सोम शर्मा) को तो इस वाक्य का अर्थ मालूम न था, इसलिये उसने बात बदल दी और उसका ध्यान बँटा कर रात बिता दी। सबेरा होते ही वह आगे चल दिया।

दूसरे दिन वह सूणक गाँव में पहुँचा। यहाँ भी उसे ठहरने का स्थान न मिला, तो भरटकों की मठी में ही रुकना पड़ा। भरटकों ने भी उसी तरह उससे एक संदेह पूछ दिया—

जथडि भुंजंति भरड भसंगी मुखी गोरी उरि पांडुरी
ताथडि भुंजंति भंभा देवि सपतपतालभसभम्॥

इस श्लोक का अर्थ आज तक कोई पंडित न बता पाया। तो आप ही बताइये।" पंडित इस श्लोक को सुनकर अर्थ न समझा। उसका मुँह फीका पड़ गया। वह सोचने लगा—'यह कैसी बात है! गुरुजी ने मुझे कुछ भी ऐसा नहीं पढ़ाया कि दो लोगों को मैं उत्तर दे पाऊँ! तो घर जाकर अब क्या होगा? यह तो सिर मुड़ाते ही ओले पड़ गये। दो अल्पज्ञानियों ने दो स्थानों पर संदेह पूछा, उसमें से मुझे एक का भी उत्तर ज्ञात नहीं था, और न मैं एक का भी उत्तर दे पाया। इस लिये अब वापस चलूँ और फिर से अध्ययन करूँ।' यह सोच कर वह वापस एक बार फिर गुरु के पास गया और उसने कहा—'आदरणीय गुरुदेव, मुझे आपने क्या पढ़ाया प्रभु! क्योंकि अपने गाँव जाते हुए दो मूर्खों ने मुझसे दो शंकाएँ कीं। और मैं उनका भी निराकरण न कर पाया। तो अब आगे जाकर क्या करता?' यह कह कर उसने वे दोनों शंकाएँ गुरु के आगे बता दीं। गुरु को भी उनका अर्थ ज्ञात न था। तब गुरु ने रात में सरस्वती की आराधना करके दोनों संदेह बताये तब देवी भारती ने कहा—ये दोनों गद्य पद्य कूट हैं इसलिये अर्थ समझ में नहीं आ रहा। तो सुनो, इनका सही पाठ इस प्रकार है—

"इन्द्रियाणां तृप्तिर्नास्ति कस्मात् कारणात्।"

(इंद्रियों को किस कारण से तृप्ति नहीं होती?)

तथा—

यत्र भुञ्जति भस्माङ्गो मूर्खो वा यदि पण्डितः।
तत्र भुञ्जाम्यहं देवि सपत्नीको भवे-भवे॥

(हे देवि, जहाँ भस्मधारी, मूर्ख या पंडित भी भोजन कर रहा हो, वहाँ मैं सपत्नीक भोजन करता हूँ।)

तब प्रातः गुरु ने सही पाठ शिष्य के सामने बताया और फिर कहा—अब इसके बाद हर तरह से ग्रामभट्ट और भरटक की संगति से दूर रहना तब सोमशर्मा गुरु का वचन मानकर कुसंगति से दूर रहता हुआ सकुशल अपने नगर में आ गया और अपनी विद्या से सारे समाज में सम्मानित हुआ।

॥ तेईसवीं कथा ॥

जो कही हुई बात का अर्थ नहीं समझता, वह काम बिगाड़ देता है, जैसा किसान के यहाँ गुड़ और माँड़ खाने वाले साधु ने किया।

विजयपुर में लोलय नाम का साधु था। एक बार अक्षय-तृतीया के उत्सव के अवसर पर वह किसी गृहस्थ के घर भिक्षा लेने पहुँचा। वहाँ उसने भिक्षा में गुड़ मिला माँड़ पाया। साधु ने उसे खाया। उसका स्वाद उसकी जीभ में लग गया। अगले दिन वह फिर वही वस्तु लेने की इच्छा से उसी कुटंबी के घर पहुँचा। भिक्षा दी जाने लगी, तो उसमें वह चीज न देख कर उसने भिक्षा नहीं ली। तब धनी ने पूछा—अरे भाई, क्या चाहिये ? उसे उस वस्तु का नाम तो मालूम न था, इसलिये चुप रह गया। फिर बड़ी देर बाद स्वयं बोला—'कल जो दिया था, वह दो।' उसके बार-बार कहने पर धनी ने कहा—'बाकी सब है, कल वाली वस्तु ही नहीं है। उसके लिये बड़ी तैयारी करनी होती है।" तब साधु ने कहा—"जैसे वह तैयार हो जाय, वैसा ही करो।" तब धनी ने सोचा—यह इतना मोटा, तगड़ा है, तो इसका लाभ क्यों न ले लिया जाय ? यह सोच कर वह साधु से बोला—'मेरे साथ चलो, जिससे कल वाली वस्तु तैयार हो जाय, वैसा ही करते हैं।' फिर उसने अपने कंधे पर बड़ा हल लादा, उसके माथे पर भोजन का मटका रखवाया, और खेत की ओर चल पड़ा। रास्ते में चलते हुए वह भौतिक से बोला—'सुन, जैसा-जैसा मैं कहूँ वैसा ही करना।' उस (भौतिक) ने अपनी मूर्खता से इस बात का यह अर्थ लगाया कि जैसा-जैसा यह करे वैसा ही करना है। अब वे दोनों खेत में पहुँचे, जो एक गव्यूति[1] के बराबर बड़ा था। धनी तो इतने बड़े हल के भार से मरा जा रहा था, उसने खेत में पहुँचते ही कंधे से हल उतार कर भूमि पर डाल दिया। (यह देख) भरटक ने भी अपने माथे पर रखा मटका उतार कर नीचे पटक दिया। (मटका फूट गया)। धनी क्रुद्ध होकर लाल-लाल आँखें दिखाते हुए उसे गालियाँ दी। साधु ने भी वे ही गालियाँ धनी को दे डालीं। तब धनी ने बहुत क्रोध में भर कर प्राजन उखाड़ा और उसे पीटने दौड़ा। उसने भी हल उठाया और धनी को पीटने दौड़ा।

---

१. एक गव्यूति—दो सहस्र धनुष या एक कोस (हैम); दो कोस (अमरकोश)

अब धनी डर कर मुट्ठियाँ बाँधे घर की ओर भागा। वह साधु भी कल की वस्तु इसी तरह मिलेगी—यह सोच कर उसी तरह उसके पीछे दौड़ा। आगे दौड़ते हुए धनी की धोती एक झाड़ी के काँटों में उलझ गयी और डर के मारे उसने उसे छुड़ाया भी नहीं। भौतिक ने भी अपनी धोती उतार कर वहीं उलझा दी। गाँव पास आने लगा, तो भगत में जाती किसी धनी स्त्री ने अपना दुशाला धनी को लपेटने के लिये दिया। वह उसे लपेट कर घर में घुसा। उसके पीछे लगे साधु ने उस स्त्री की धोती खींच कर स्वयं पहन ली और धनी के पीछे-पीछे लगा रहा। इधर उस स्त्री ने काँटों में उलझे वे दोनों वस्त्र पहन लिये।

घर पहुँच कर डर से काँपता हुआ कुटुंबी एक कोठे में घुस गया। वह भौतिक उसके पीछे-पीछे आया और दूसरे कोठे में घुस गया। इस तरह एक प्रहर बीत गया, तो कोठे के भीतर से भौतिक चिल्लाया—"कल वाली वस्तु अभी तक बनी या नहीं?" तब धनी (उसकी मूर्खता जान गया और) निडर हो कर बाहर आया। भौतिक भी बाहर आ गया। धनी ने उसे पिछले दिन की तरह गुड़ और मँड दिया और उसके पैर पड़ कर उसे अपनी मठी भेजते हुए कहा—भैया, अब आगे से तुम यहाँ मत आना। मूर्ख ऐसे होते हैं।

॥ चौबीसवीं कथा ॥

अविवेकी व्यक्ति समझा कर कही हुई बात को भी प्रायः नहीं बूझ पाता, जिस तरह 'म झखि' इत्यादि कहे जाने पर (न समझने वाले) भौतिक के साथ हुआ।

राजपुर नामक नगर में किसी गृहस्थ ने आस-पास के गाँवों के सारे लोगों को भोजन के लिये बुलाया। उनके बीच में एक मूर्ख भौतिक भी आ गया। पाँत बैठ गयी, तो गृहस्वामी ने कटोरे में पानी दिया। तब भौतिक ने अपने बगल में बैठे आदमी से पूछा—अरे भाई, इस वस्तु का नाम क्या है? उसने कहा—'म झखि' (बोलो मत)। तब भौतिक ने सोचा कि (इसका नाम मझखि होगा)। उसके बाद पाँच अच्छे आटे के बने रसीले शुद्ध गण परसे गये। उनका नाम पूछने पर बगल वाले ने कहा—उगा (चुप रहो।) फिर लपनश्री[1] परसने पर जब उसने और भी नाम पूछा, तो कहा—चुप। भोजन के पश्चात् ग्राम पहुँचे तो भौतिक क्या-क्या खाया यह सब को बता-बता कर गाने लगा—

मझखि पड़ी कटोरडइ उगा पडिया पंच।
अवर न कांई मीठडुं जेह वी मीठी चुप्प॥

---

१. मनुष्य या पशु के आकार मे शकर की बनी मिठाई।

॥ पच्चीसवीं कथा ॥

जो बुद्धिहीन व्यक्ति दूसरे की कही हुई हर बात को तथ्य मान लेता है, वह हास्यास्पद बनता है, जिस तरह शाखा पर चढ़ा हुआ साधु बना।

एलाकपुर में बहुत सारे भौतिक रहते थे। एक बार जब वर्षा निकट थी, तो दंडक नाम का एक भौतिक अपनी मठी के लिये लकडी लाने जंगल में गया। वहाँ एक वृक्ष की बड़ी ऊँची शाखा देख कर उसे काटने के लिये पेड पर चढ़ गया और उसी शाखा पर बैठ कर उसी को जड़ से काटने लगा। तब राह चलते कुछ पथिकों ने उसे वैसा करते देख कर कहा—"अरे भौतिक, मूर्खराज इसी शाखा पर बैठ कर उसी को मत काटो, नहीं तो शाखा कटते ही नीचे गिरोगे और मर जाओगे।' ऐसा कह कर पथिक अपने रास्ते चलते बने, और भौतिक ने उनकी अनसुनी कर के अपना काम जारी रखा तो वह शाखा कट कर जैसे ही भूमि पर गिरी, वह भी उसके साथ नीचे आ गिरा और मन में सोचने लगा—ये पथिक तो ज्ञानी और सत्यवादी निकले, क्योंकि जो उन्होने बताया, वही हुआ। तब तो (जैसा उन्होंने कहा था, अब तक) मैं भी सचमुच मर ही चुका होऊंगा। यह सोच कर वह भौतिक भूमि पर गिर कर मुर्दे की भाँति पड़ा रह गया। न बोलता, न उठना, न साँस लेता। आस-पास से आये लोगों ने उठाया तो न उठा, बुलवाया तो न बोला। तब दूसरे साधुओं के सामने लोगों ने कहा— यह आप लोगों का दंडक साधु तो मरे हुए की तरह पड़ा है।' (खबर फैली), तो बहुत सारे भौतिक इकठ्ठे हो गये। वे दंडक मर गया—यह सोच कर अंतिम संस्कार के लिये (उसे उठा कर) ले चले, तो कुछ ही आगे चल कर दुराहा आ गया। तब कुछ ने कहा—'बायीं तरफ से ले जाना है।' दूसरों ने कहा—'दाहिनी तरफ से।' इस तरह सब विवाद करने लगे। किसी तरफ निर्णय न हो पाया। तब टिकड़ी पर लेटे भौतिक ने कहा—"अरे भाई, झगड़ा मत करो। जब हम जीवित थे, तब वाम मार्ग से जाया करते थे।" तब कुछ भौतिक बोले—"अरे यह सदा सच बोलता था। यह जो कहता था, वह सच ही निकलता था। इसलिये वाम मार्ग से ही चलो।" तब सभी भौतिक उसी ओर चल पड़े। तब तक वहाँ जाते पथिकों ने कहा—'अरे भौतिकों, तुम लोग महामूर्ख हो। यह जीवित है और तुम इसे दाह के लिये ले जा रहे हो।' उन्होंने कहा—'यह मर चुका है।' पथिकों ने कहा—"यह नहीं मरा, क्योंकि यह बोल रहा है।" तब वे लोग टिकड़ी को धरती पर रख कर उसी (दंडक) से पूछने लगे। उसने शपथ ले कर बताया कि जिन पथिकों ने उसके मरने की बात कही वे ही ज्यादा ज्ञानी थे। तब भौतिक लोग संदेह की स्थिति में वैसे ही खड़े रह गये। फिर किसी तरह बड़ी कठिनाई से पथिकों ने उन्हें समझाया, तब वे अपने स्थान लौट गये। लोगों के द्वारा अपनी हंसी कराता हुआ वह भौतिक भी अपने स्थान लौटा।

॥ छब्बीसवीं कथा ॥

मूर्ख व्यक्ति अपने द्वारा कल्पित बात को ही शास्त्र समझ लेता है, जिस तरह नदी तट पर स्थित, पत्र भिजवाने वाले भौतिकों ने किया।

बइणपपुर में आशीर्धर नामक मंत्री भौतिकों का बड़ा भक्त था। एक बार बहुत सारे भौतिक एक गाँव से दूसरे गाँव घूमते हुए उसके नगर के निकट आ गये। वर्षा का समय था, उनके और नगर के बीच बेन्ना नदी थी, जिसमें भारी बाढ़ आ गयी थी। उस बाढ़ के कारण वे रुक गये। साँझ हो गयी, तो भूख से मरते हुए वे सोचने लगे—हम अपने यजमान मंत्री आशीर्धर को पत्र भेज कर अपने यहाँ आने का समाचार दें, क्योंकि हम भूखे प्राणियों का भरण-पोषण वही करता रहा है, नहीं तो हम यहीं भूखों मर जायेंगे। इस अभिप्राय से सबने पत्र लिखना (पत्र का मजमून बनवाना) आरंभ किया। उनके बीच पंडित कहा जाने वाला एक लेखक (प्रतिलिपि करने वाला) था, उसने कहा—लेख संस्कृत में लिखा जायेगा कि प्राकृत में? यह सुन गुरु कहे जाने वाले भौतिक ने कहा—अरे मूर्खो, वह मंत्री बड़ा भारी विद्वान् है। इसलिये उसको तो पत्र संस्कृत में ही भेजना उचित है, प्राकृत में नहीं। तब दूसरे भौतिकों ने उस गुरु से कहा (कि तुम्हीं लिखवा दो), तो उसने लिखवाया—

'दस अट्ठ भरडक नदयल तड रहच्छ असरधर महत मकर जम भुखन मरा।'

इस लेख में केवल अक्षर (लिपि?) संस्कृत के थे (भाषा प्राकृत ही थी।) उन्होने यह लेख किसी नाविक के हाथों भिजवाया। नदी पार कर उस नाविक ने वह (लेख) मंत्री को दे दिया। लेख बाँच कर मंत्री ने सोचा—'अरे हमारे गुरु लोग भी कितने मूर्ख हैं।' मन ही मन हँसते हुए उसने अन्न, पेय भेज कर सबको संतुष्ट कर दिया।

॥ सत्ताइसवीं कथा ॥

देवयोग से किसी पर विपत्ति आ पड़े, तो सदा लोग उस (विपत्तिग्रस्त) का ही दोष बताते हैं, जैसा मार्ग में लूटे गये भौतिक के साथ हुआ।

लोटाणक गाँव में कुटक नाम का साधु था। संघ के काफिले के साथ वह एक बार तीर्थयात्रा के लिये गोदावरी तीर की ओर चला। मार्ग में जाते हुए किसी विषम स्थान में चोरों ने उसकी गाड़ी लूट ली। उसका सब कुछ चला गया। पछताता हुआ वह घर लौटा। उस गाँव के लोग उससे किटकिट करने के लिये उसके घर आ कर पूछने लगे—'क्यों भाई भौतिक! क्या बात हुई? गाड़ी कैसे लुट गयी? गाड़ी कहाँ थी?' तब भौतिक कहता—'क्या करें? भाग्य की बात—ऐसा हो गया।

गाड़ी तो हमारी सबसे आगे ही थी। फिर भी लुट गयी। पुण्य करते हुए भी बुराई हाथ लगती है। यह तो भाग्य का ही दोष है।' इत्यादि। लोग कहते—'अरे भौतिक, यह तो तुम्हारी मूर्खता है, जो गाड़ी आगे लगा ली। प्रायः चोर तो पहले आगे ही धावा बोलते हैं।' भौतिक ने कहा—अब क्या करें? ऐसा हो गया, (सो हो गया)।' फिर लोगों का दूसरा समूह आया और उसी तरह पूछने लगा, तो भौतिक ने कह दिया कि गाड़ी बीच में थी। तब लोगों ने कहा—'अरे, तुम्हारी कितनी बड़ी मूर्खता है! गाड़ी भला कोई बीच में लगाता है? चोरों के लिये तो सेंध की जगह बस बीच में ही हुआ करती है।'—इत्यादि। फिर लोगों का तीसरा समूह पूछने आया, तो भौतिक ने कहा कि गाड़ी सबसे पीछे थी। तो उन्होंने कहा—'अरे यह कैसी तुम्हारी महामूर्खता है! भला गाड़ी कोई पीछे भी लगाता है? चोर तो आगे-आगे कोई लड़ाकू वीर होंगे—यह सोच कर डर के मारे सदा पीछे की गाड़ी पर ही हाथ मारते हैं।' उन सब के वचन सुन कर साधु फिर गुस्से से उखड़ पड़ा और बोला—अरे भाई लोगों!

आगलि लीजइ पाछलि लीजइ विचि लीजइ।
काहउ रे लोको मां उरइ पेटि पइ सीजइ॥

तब लोग चुप रह कर अपने-अपने स्थान लौट गये।

॥ अट्ठाइसवीं कथा ॥

गुण के अर्थी गुरु को अपने मूर्ख शिष्यों को हर किसी तरह के कार्य में नहीं लगा देगा चाहिये, जिस तरह गुरु ने खेत सींचने वाले शिष्यों को लगाया।

मारवाड़ के चक्रपुर नगर में विकट मिश्र नामक भरटकों का आचार्य था। उसके बहुत सारे मोटे तगड़े महामूर्ख शिष्य थे।

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृच्छकृत्॥

(राजा एक बार (एक बात) ही बोलते हैं, पंडित भी एक बार ही बोलते हैं, कन्याएँ एक बार ही दी जाती हैं,—ये तीन काम सदा एक बार ही हुआ करते हैं।)

इस श्लोक के स्थान पर वे यह बोलते थे—

सिरिगिरि बोलति राणा
सिरिगिरि दीजति काणा।
सिरिगिरि बोलति पंडिया
तीनरिता सिरिगिरि सिरिगिरि॥

युधिष्ठिर को वे जूठिलु कहते थे और इस प्रकार महा अशुद्ध पाठ करते थे।

एक बार जब वर्षा ऋतु आने पर समय पर बरसात हुई, तो भौतिक के भक्त नगरवासियों ने अपने खेतों में बोहनी की। फसल उग आयी और बढ़ने लगी। पर भादों में पानी नहीं गिरा, तो फसल सूखने लगी। तब घबराये हुए लोग गुरु के पास पूछने आने लगे कि वर्षा कब होगी। गुरु भी—होगी, होगी—यह कहकर कुछ दिन तो उन्हें धोखा देता रहा। फिर एक बार एक व्यक्ति बड़े आग्रह से पूछने लगा, तो उसने कहा—यदि इस तरह से हमारी सेवा-टहल करोगे, तो तुम्हारे खेत में वृष्टि होगी। उसने गुरु की उसी तरह सेवा की। तब गुरु ने सोचा—मेरे इतने सारे मोटे-तगड़े चेले हैं, ये किस काम में आयेंगे? क्यों न मैं इनका लाभ ले लूं? क्यों न (इनके माध्यम से) अपना महत्व बढ़ा लूं? तब गुरु ने रात में अपने शिष्यों के द्वारा बावड़ी से पानी डलवा-डलवा कर उस व्यक्ति के खेत को लबालब भरवा दिया। सबेरे उस किसान ने अपना खेत पानी से भरा देखा तो चकित हुआ और अपने गुरु का प्रभाव लोगों के आगे बखानता हुआ और भी अधिक गुरु की सेवा करने लगा। दूसरे लोग भी जब उसी तरह गुरु की सेवा करते, तो उनके खेतों में भी गुरु रात को अपने शिष्यों के द्वारा सिंचाई करा देता। इस तरह समाज में गुरु की प्रतिष्ठा बढ़ गयी। इस तरह कई दिनों के बाद एक यजमान ने बहुत भक्ति के साथ अपने खेत की सिंचाई के लिये गुरु से निवेदन किया। गुरु ने कहा—"ठीक है, तुम्हारे खेत में भी वृष्टि हो जायेगी।" गुरु ने रात में उसका खेत भी सिंचवा दिया। इस तरह प्रतिदिन पानी ढो-ढो कर तंग आ चुके शिष्यों ने एक बार (सबके सामने) कह दिया "अब तो जो कहता है कि वर्षा होगी, वही ढुलाई का काम भी करेगा।" तब दूसरे लोगों ने उन शिष्यों से असलियत पूछी। उन्होंने सबके आगे सच्ची बात बता दी। फिर तो गुरु की सारी महिमा चली गयी। गुरुओं के द्वारा शिष्य इस तरह के कार्यों में नहीं लगाये जाने चाहिये।

॥ उन्तीसवीं कथा ॥

मूर्ख व्यक्ति अपने द्वारा किये गये अनुचित कार्य (चोरी आदि) को शंका के कारण स्वयं बता बैठता है, जैसा लंबकाणी कहने वाले भौतिक ने किया।

वर्धन गाँव में सोम नाम का साधु रहता था। वह एक बार अपने यजमान के घर भिक्षा के लिये गया, जो लुहार था। उसके घर में उसने लोहे का बना हुआ एक काना पड़ा देखा और जब कोई नहीं देख रहा था, तो उसे उठा कर मठी में आ गया।

उसके बाद से वह शंका के कारण ही उसके घर में भिक्षा के लिये नहीं जाता था। इधर धनी को बहुत ढूंढ़ने पर भी जब अपना काना न मिला, तो उसने दूसरा बना लिया। उसने सोचा भी नहीं कि गुरु उसका काना उठा कर ले जा सकते हैं। इस तरह कई दिन बीत गये, तो धनी ने सोचा—गुरु (आजकल) भिक्षा के लिये क्यों नहीं आते ? एक बार यजमान को वह भौतिक मार्ग में मिल गया, तो उसने निमंत्रण दिया—क्यों, आप हमारे घर भिक्षा के लिये क्यों नहीं आते ? यह आपकी कैसी लंबकाणी (विलंब करना, न आना) है ? उसके बार-बार ऐसा कहने पर भौतिक ने सोचा—लगता है, जो वस्तु मैंने इसके घर से उठायी है, उसका लंबकाणी ही नाम है। और इसको पता चल गया है, तभी तो यह जब भी मिलता है यही कहता है—कैसी है आपकी लंबकाणी ? तो जब तक मैं वह वस्तु लौटा नहीं दूँगा, यह छोड़ेगा नहीं। तब एक दिन उसने स्वयं (लहर में) कहा—"अरे भाई, क्या यह लंबकाणी जो तुम प्रतिदिन माँगते रहते हो, तुम्हारी ही है ? मुझे पता नहीं था कि यह तुम्हारी है, इसलिये मैंने ले ली। यदि तुम्हारी हो, तो तुम ले लो।" तब उस चतुर धनी ने सोचा वह जो मेरा काना चला गया था, वह इसने उठा लिया था। तो मैं माँग लेता हूँ।" यह सोच कर उसने (अपनी चीज) वापस माँग ली। भौतिक ने वह वस्तु उसे शपथ ले लेकर लौटायी, तो लोग हँसने लगे। ऐसा नहीं करना चाहिये।

॥ तीसवीं कथा ॥

स्त्रियाँ अपनी सूझबूझ के द्वारा मूर्खों को आसानी से धोखा दे देती हैं, जैसा उच्च डुंगर की रहने वाली गृहणी ने भौतिक को धोखा दिया।

करठक गाँव के बाहर एक पहाड़ पर बनी मठी में कदाग्रही नामक भौतिक अपनी पत्नी के साथ रहता था। वह अपनी पत्नी का सच्चरित्र गाँव में लोगों के आगे इस तरह बखानता रहता—मेरी पत्नी के जैसी सती दूसरी नहीं है। क्योंकि—

इकुपरि इकुपरि डुंगरडइ भाई
अवर न देखुं इसी भाई।
उँचइ उंचइ कोई न जाई।

एक बार त्रिपदी को सुना सुना कर वह लोगों के आगे अपनी पत्नी के शील की प्रशंसा कर रहा था, तो एक धूर्त ने सोचा—निश्चय ही यह मूर्ख स्नेह से बँध कर स्त्री के शील की प्रशंसा कर रहा है। स्त्रियों में शील कैसा ? क्योंकि

'कौवे में पवित्रता, जुआरियों में सत्य, सर्प में सहिष्णुता, स्त्रियों में काम की शांति, नपुंसक में धैर्य, शराबी में तत्वचिंता तथा राजा की मित्रता भला किसने देखी या सुनी है ?'

तब वह धूर्त उस (स्त्री) की वास्तविकता का पता लगाने के लिये मठी में गया। उसने देखा कि भौतिक की पत्नी तो बड़ी रूपवती थी। उसने भी उस (धूर्त) का अतिशय रूप और (मठी में) एकांत देखकर भोग के लिये प्रार्थना की। उस (धूर्त) ने उसकी बात मान ली। वे दोनों जब वहाँ थे, तभी भौतिक सहसा गाँव से लौट आया। उसकी पदचाप सुन कर उस (स्त्री) ने भयभीत धूर्त को एक कोने में छिपाया और कहा—अरे तुम डरना मत। मैं ऐसा कुछ करूँगी, जिसमें तुम्हारा बाल भी बाँका न हो। और तुम प्रतिदिन यहाँ आया करो।' उस (धूर्त) ने उसकी बात मान ली। तब वह उठ कर भौतिक के सामने चली गयी, और अपने पति से बोली—स्वामी, आज तो आपका एक महान् अनिष्ट होने वाला था, पर मैंने क्षेत्र देवता के पैर पड़ कर उसे टालने की प्रार्थना की, तब देवता ने कहा—"यदि तेरा पति दोनों आँखों पर पट्टी और गले में घंटी बाँध कर "इकुपरि इकुपरि भाई"—के तीन चरण उचारता हुआ तीन फेरे लगाये, तो सारा अनिष्ट समाप्त हो जायेगा। उसकी बात मान कर भौतिक वैसा ही करने लगा तब वह धूर्त "आँखि पाटा गलि घंटा, अम्हे मठी माही"—यह चौथा चरण उचारता हुआ तेजी से निकल भागा। इधर तीसरा फेरा लगाकर भौतिक ने पूछा—'हे भद्रे, यह कौन गया?' उसने कहा—हे नाथ, यह मूर्तिमान् महान् अनिष्ट निकल कर जा रहा है।" उसने (इसकी बात) मान ली। इस प्रकार वह धूर्त प्रतिदिन उसे भोग कर जाता। इस तरह (चलता रहा) कुछ दिन बाद भौतिक ने लोगों के सामने वैसी ही त्रिपदी गायी—"इकुपरि इकुपरि०—", तो उस धूर्त ने चौथा चरण कह डाला—"आँखि पाटा०" उसे सुनकर लोग इस (स्त्री) की वास्तविकता और शील जान गये। पर भौतिक ठहरा मूर्ख, वह कुछ न समझ पाया। मूर्ख इस तरह के होते हैं।

॥ इकतीसवीं कथा ॥

जो व्यक्ति काम की बात जिस तरह से समझ सके, उसे उसी तरह समझा देना चाहिये, जैसे कि जानकार ने जले हुए कौवे खाने से भौतिकों को रोका।

मारवाड़ में सोलोक गाँव में बहुत सारे भौतिक रहते थे। एक बार अपने यजमानों से पाँव-पुजाई करवाने वे चक्रपुर की ओर चले। उनके साथ एक सुविचार नाम का पंडित भी चला। इसी तरह चलते-चलते दोपहर हो गयी। अत्यंत बुभुक्षित भौतिक लोग सब जगह खाद्य पदार्थ खोजने लगे, तो उन्हें दावाग्नि से जला एक धान का खेत दिखायी दिया। उसके बीच आधे जले बहुत से कौवों को देख कर वे उनका गला मरोड़ कर खाने लगे। तब सुविचार ने कहा—'अरे पापियों, यह क्या करने लगे तुम लोग? पहले तो मांस ही अखाद्य है, फिर कौवे के मांस का तो कहना ही क्या? यह चांडालों के योग्य काम तुम लोगों ने क्यों प्रारंभ कर दिया?' उन लोगों ने

कहा—'कौवे खाने का तो विधान है।' पंडित ने पूछा—'कहाँ पर ?' भौतिकों ने कहा—'पोथी में है। (पोथी में लिखा है)—क, ख, ग, घ, ङ, तो क का मतलब कौवे, ख का मतलब खाओ, ग का मतलब गला, घ का मतलब घोंट कर, और ङ का मतलब ङ (अक्षर) की तरह मरोड़ कर। तब सुविचार ने सोचा—'ये लोग ठहरे मूर्ख, अपनी मनगढंत से चल रहे हैं, तो मनगढंत से ही इन्हें रोका जा सकता है।' तो कहा—अरे भौतिकों तुम लोगों को पोथी आती (भी) है या नहीं ? उन्होंने कहा—'नहीं, आती तो है।' उसने कहा—तब फिर उसी में आगे त, थ, द, ध, न कह कर निषेध किया गया है। उन्होंने कहा—'सो कैसे ?' उसने बताया—'तथ का मतलब तथापि, दध का मतलब दग्ध और न का मतलब न खाये जायें।' तब उस पंडित के वचन से सारे भौतिक कौवे खाने से विरत हुए।

॥ बत्तीसवीं कथा ॥

सहज रूप से कही गयी बात पर भी मूर्ख लोग झगड़ा कर बैठते हैं, जिस तरह मेघों के बरसने पर साधु ने पंडित से झगड़ा किया।

देवरमण पुर में दिवाकर नामक पंडित था। वह कभी भी प्राकृत भाषा में नहीं बोलता था। एक बार वर्षा के समय वह दूसरे पडित के साथ अपने गाँव से रोजी रोटी के लिये बाहर गया हुआ था। जब लौटने लगा तो मार्ग में मूसलाधार वृष्टि होने लगी। भीग जाने के भय से वह पंडित दूसरे पंडित के साथ किसी भौतिक मढ़ी में जा घुसा। वहाँ उसने सहज भाव से ही दूसरे पंडित से कहा 'वर्षन्ति मेघाः' (आज तो) बादल (खूब) बरस रहे हैं।' साधू ने उसकी बात सुनकर सोचा—'अवश्य ही यह विद्वान् मुझे देख कर गुप्त रूप से गाली दे रहा है।' तब उस भौतिक ने उठ कर पंडित का गला पकड़ लिया और कहा—मुझे गधा बताकर गाली क्यों दे रहे हो ?' पंडित ने कहा—'मैंने गाली कैसे दी ?' उसने—सुन बताता हूँ। 'वर्षन्ति मेघाः' यह तूने कह दिया। अब इसके आगे शब्द मैं समझ रहा हूँ वे है—'उंघंति निद्राम् आचरन्ति मेषाः गर्दभाः' भेड़ और गधे ऊँघ रहे या सो रहे हैं। तो तूने मुझे गधा कहा। पंडित ने कहा—ऐसा मत बोल। मैंने तो सहज भाव से कहा था। भौतिक ने कहा—'अरे घुमा फिरा कर मत बोल। तूने मुझे गुप्त रूप से गाली दी है। राजा के सामने चल।' इस तरह वह झगड़ता रहा, तो लोगों ने किसी तरह समझा बुझाकर उसे शांत किया। तब पंडित प्रसन्न होकर अपने घर लौट आया।

——